विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

Vijay Warthe

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर – नवम्बर – दिसम्बर

★ १९७७ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी चिन्मयचैतन्य

वार्षिक ५)

एक प्रति १।।)

आजीवन सदस्यता शुल्क – १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२००१ (म. प्र.)

फोन : २४५८९

अनुक्रमणिका

—।•।—

कवर चित्र परिचय — **स्वामी विवेकानन्द**

(मद्रास में, फरवरी १८९७)

मुद्रणस्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १५] अक्तूबर--नवम्बर--दिसम्बर [अंक ४
★ १९७७ ★

अहं से सावधान

समूलकृत्तोऽपि महानहं पुन-
र्व्युल्लेखितः स्याद्यदि चेतसा क्षणम् ।
संजीव्य विक्षेपशतं करोति
नभस्वता प्रावृषि वारिदो यथा ।।

--यह प्रबल अहंकार जड़-मूल से नष्ट कर दिया जाने पर भी यदि एक क्षणमात्र को चित्त का सम्पर्क प्राप्त कर ले, तो पुनः प्रकट होकर सैकड़ों उत्पात खड़े कर देता है, जैसे कि वर्षाकाल में वायु से संयुक्त हुआ मेघ ।

—विवेकचूड़ामणि, ३०९

उस अरूप के बहुविध रूप

कोई गाँव का रहनेवाला शहर घूमने के लिए आया हुआ था। शहर के वैभव, ठाट-बाट और सुन्दरता को देख वह मुग्ध था। मार्ग के दोनों ओर तरह तरह की दुकानें सजी हुई थीं। कहीं कतार पर कतार बर्तनों की दुकानें थीं, तो कहीं रंग-बिरंगे कपड़ों की। सराफा बाजार देखकर तो वह चकरा गया। भाँति भाँति के सोने-चाँदी के गहने दुकानों की शोभा बढ़ा रहे थे। चलते चलते वह रँगरेजों की गली में घुस पड़ा। वैसे तो वहाँ देखने का कुछ विशेष नहीं था, पर एक दुकान के पास आकर वह ठिठक गया। वह रँगरेज उसे बड़ा कौतुकी मालूम पड़ा। उसने देखा, एक ग्राहक कपड़ा लेकर उस दूकान पर आया। रँगरेज ने उससे पूछा, "किस रंग में तुम अपना यह कपड़ा रँगाना चाहते हो?" ग्राहक ने कहा, "लाल रंग में।" दुकान के एक कोने में सामने की ओर एक नाँद थी, उसमें कोई रंग घुला हुआ था। रँगरेज ने ग्राहक से कपड़ा लिया और उसे छपाके से नाँद के रंग में डाल दिया। कपड़ा लाल रंग में रँग गया। ग्राहक सन्तुष्ट हो गया। कपड़े को धूप में डालते हुए रँगरेज ने ग्राहक से कहा, "तुम घण्टे भर बाद आकर अपना कपड़ा ले जाना।"

इतने में एक दूसरा ग्राहक आ गया और उसने अपना कपड़ा पीले रंग में रँगाना चाहा। रँगरेज ने नाँद के उसी घुले हुए रंग में इस दूसरे ग्राहक का भी कपड़ा

डाला, और आश्चर्य कि कपड़ा पीले रंग में रँग गया। ग्राहक सन्तुष्ट हो गया। उसे भी एक घण्टे बाद कपड़ा ले जाने की बात कहकर रँगरेज तीसरे ग्राहक से बातचीत करने लगा। उसने अपना कपड़ा नीले रंग में रँगने की बात कही। रँगरेज ने नाँद के उसी रंग में वह कपड़ा भी डुबो दिया और वह नीले रंग में रँग गया। इसी प्रकार उसने अन्य ग्राहकों के भी कपड़े नाँद के उसी एक रंग में डुबो-डुबोकर उनके इच्छित रंगों में रँग दिये।

यह गाँव का रहनेवाला बड़ी देर से कुतूहलपूर्वक रँगरेज का यह चमत्कार देख रहा था। रँगरेज ने भी देखा कि यह गाँव का आदमी बड़ी देर से उसकी दुकान के सामने खड़ा हुआ है। इस बीच कितने ग्राहक आये और गये, पर यह है कि खड़े खड़े देखे ही जा रहा है। रँगरेज ने उससे पूछा, "क्यों जी, बड़ी देर से खड़े हो, क्या तुम्हें भी कुछ रँगाना है?"

वह बोला, "रँगाना तो नहीं था, पर अब रँगाने की इच्छा हो गयी है।"

"क्या रँगाओगे?" उसके पास कोई कपड़ा न देख रँगरेज ने उससे आश्चर्यपूर्वक पूछा।

उसने अपनी पहनी हुई सफेद कमीज उतार ली और उसे रँगरेज को देता हुआ बोला, "इसे रँग दो।"

"किस रंग में?"

"तुम्हारी नाँद में जो रंग घुला है, उसी में।"

जो नाँद के रंग में अपना कपड़ा रँगाना चाहता है,

वह है ज्ञानी, जो परमात्मा को उसके स्वरूप में जानना चाहता है। भिन्न भिन्न रंगों में कपड़ा रँगानेवाले व्यक्ति भक्त हैं, जिनकी कामना पूरी करने के लिए वह एक अरूप ईश्वर ही विभिन्न रूप धारण करता है।

अग्नि-मंत्र

('भारती' की सम्पादिका श्रीमती सरला घोषाल को लिखित)

दार्जिलिंग,
द्वारा श्रीयुत एम० एन० बनर्जी
२४ अप्रैल, १८९७

महाशया,

आपने मेरी कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में जो पूछा है, उस विषय में सबसे आवश्यक बात यह कहनी है कि काम उसी पैमाने पर शुरू करना चाहिए, जो अपेक्षित परिणामों के अनुरूप हो। अपनी मित्र कुमारी मूलर के मुँह से आपकी उदार बुद्धि, स्वदेश-प्रेम और दृढ़ अध्यवसाय की बहुतसी बातें मैं सुन चुका हूँ और आपकी विद्वत्ता का प्रमाण तो प्रत्यक्ष ही है। आप मेरे क्षुद्र जीवन की नगण्य चेष्टा के विषय में जानना चाहती हैं, मैं इसको अपना बहुत बड़ा सौभाग्य मानकर इस छोटे से पत्र में यथासम्भव निवेदन करने का प्रयत्न करूँगा। परन्तु पहले मैं आपके विचार-चिन्तन के लिए अपनी परिपक्व मान्यताओं को आपके सम्मुख रखता हूँ।

हम लोग सदा पराधीन रहे हैं, अर्थात् इस भारत-भूमि में जनसमुदाय को कभी भी अपनी आत्म-स्वत्व बुद्धि को उद्दीप्त करने का मौका नहीं दिया गया। पश्चिमी देश आज कई सदियों से स्वाधीनता की ओर बड़े वेग से बढ़ रहे हैं। इस भारत में कौलीन्य-प्रथा से लेकर खान-पान तक सभी विषय राजा ही निपटाते आये हैं।

परन्तु पश्चिमी देशों में सभी कार्य जनता अपने-आप करती है।

अब राजा किसी सामाजिक विषय में हाथ नहीं डालते, तो भी भारतीय जनता में अब तक आत्म-निर्भरता तो दूर रही, थोड़ासा आत्मविश्वास भी पैदा नहीं हुआ। जो आत्म-विश्वास वेदान्त की नींव है, वह किंचित् भी यहाँ व्यवहार में परिणत नहीं हुआ है। इसीलिए पश्चिमी प्रणाली--अर्थात् पहले उद्देश्य की चर्चा, और तब तमाम शक्तियों के साथ उसे पूरा करना--इस देश में अभी तक सफल नहीं हुई है और इसीलिए हम विदेशी शासन के अधीन इतने अधिक स्थितिशील (conservative) दिखायी पड़ते हैं। यदि यह सत्य हो, तो जनता में चर्चा या वाद-विवाद के द्वारा किसी बड़े काम को सिद्ध करने की चेष्टा करना वृथा है। 'जब सिर ही नहीं तो सिर में दर्द कैसा ?' जनता कहाँ है ? इसके सिवा हम ऐसे शक्तिहीन हैं कि यदि हम किसी विषय को चर्चा शुरू करते हैं, तो उसी में हमारा सारा बल लग जाता है और कोई काम करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता। शायद इसीलिए हम बंगाल में 'बड़ी वड़ी तैयारियाँ और छोटा सा फल' सदा देखा करते हैं। दूसरी बात, जैसा मैं पहले ही लिख चुका हूँ, यह है कि भारतवर्ष के धनिकों से हमें कुछ भी आशा नहीं है। इसलिए उत्तम यही है कि हम भविष्य की आशा-रूप अपने युवको के बीच धैर्यपूर्वक, दृढ़ता से चुपचाप काम करें।

अव कार्य के विषय में कहता हूँ। वर्तमान सभ्यता जैसे कि पश्चिमी देशों की है--और प्राचीन सभ्यता--जैसे कि भारत, मिस्र और रोम आदि देशों की रही है--इनके बीच अन्तर उसी दिन से शुरू हुआ, जब से शिक्षा, सभ्यता आदि उच्च जातियों से धीरे धीरे नीच जातियों में फैलने लगी। मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ कि जिस जाति की जनता में विद्या-बुद्धि का जितना ही अधिक प्रचार है, वह जाति उतनी ही उन्नत है। भारत के सत्यानाश का मुख्य कारण यही है कि देश की सम्पूर्ण विद्या-बुद्धि राज-शासन और दम्भ के बल से मुट्ठी भर लोगों के एकाधिकार में रखी गयी है। यदि हमें फिर से उन्नति करनी है, तो हमको उसी मार्ग पर चलना होगा, अर्थात् जनता में विद्या का प्रसार करना होगा। आधी सदी से समाज-सुधार की धूम मच रही है। मैंने दस वर्षों तक भारत के विभिन्न स्थानों में घूमकर देखा कि देश में समाज-सुधारक संस्थाओं की बाढ़ सी आयी है। परन्तु जिनका रक्त शोषण करके हमारे 'भद्र लोगों' ने अपना यह खिताव प्राप्त किया और कर रहे हैं, उन बेचारों के लिए एक भी संस्था नजर न आयी! मुसलमान कितने सिपाही लाये थे? यहाँ अंग्रेज कितने हैं? चाँदी के छह सिक्कों के लिए अपने वाप और भाई के गले पर चाकू फेरनेवाले लाखों आदमी सिवा भारत के और कहाँ मिल सकते हैं? सात सौ वर्षों के मुसलमान शासन में छह करोड़ मुसलमान, और सौ वर्षों के ईसाई राज्य में बीस

लाख ईसाई क्यों बने ? मौलिकता ने देश को क्यों बिल्कुल त्याग दिया है ? क्यों हमारे सुदक्ष शिल्पी यूरोप-वालों के साथ बराबरी करने में असमर्थ होकर दिनोंदिन लोप होते जा रहे हैं ? लेकिन तब वह कौनसी शक्ति थी, जिससे जर्मन कारीगरों नें अंग्रेज कारीगरों के कई सदियों से जमे हुए दृढ़ आसन को हिला दिया ?

केवल शिक्षा ! शिक्षा ! शिक्षा ! यूरोप के बहुतेरे नगरों में घूमकर और वहाँ के गरीबों के भी अमन-चैन और शिक्षा को देखकर अपने गरीब देशवासियों की याद आती थी और मैं आँसू बहाता था । यह अन्तर क्यों हुआ ? उत्तर में पाया कि शिक्षा से । शिक्षा और आत्म-विश्वास से उनका अन्तर्निहित ब्रह्मभाव जाग गया है, जबकि हमारा ब्रह्मभाव क्रमश: निद्रित---संकुचित होता जा रहा है । न्यूयार्क में मैं आइरिश उपनिवेशवासी को आते हुआ देखा करता था---पददलित, कान्तिहीन, नि:सम्बल, अति दरिद्र और महामूर्ख, साथ में एक लाठी और उसके सिरे पर लटकती हुई फटे कपड़ों की एक छोटीसी गठरी । उसकी चाल में भय और आँख में शंका होती थी । छह ही महीने के बाद यही दृश्य बिल्कुल दूसरा हो जाता । अब वह तनकर चलता था, उसका वेश बदल गया था, उसकी चाल और चितवन में पहले का वह डर दिखायी नहीं पड़ता । ऐसा क्यों हुआ ? हमारा वेदान्त कहता है कि वह आइरिश अपने देश में चारों तरफ घृणा से घिरा हुआ रहता था---सारी प्रकृति

एक स्वर से उससे कह रही थी कि 'बच्चू, तेरे लिए और कोई आशा नहीं है; तू गुलाम ही पैदा हुआ और सदा गुलाम ही बना रहेगा।' आजन्म सुनते सुनते बच्चू को उसी का विश्वास हो गया। बच्चू ने अपने को सम्मोहित कर डाला कि वह अति नीच है। इससे उसका ब्रह्मभाव संकुचित हो गया। परन्तु जब उसने अमेरिका में पैर रखा, तो चारों ओर से ध्वनि उठी कि 'बच्चू, तू भी वही आदमी है, जो हम लोग हैं। आदमियों ने ही सब काम किये हैं; तेरे और मेरे समान आदमी ही सब कुछ कर सकते हैं। धीरज धर।' बच्चू ने सिर उठाया और देखा कि बात तो ठीक ही है—बस, उसके अन्दर सोया हुआ ब्रह्म जाग उठा, मानो स्वयं प्रकृति ही ने कहा हो, 'उठो, जागो, रुको मत, जब तक मंजिल पर न पहुँच जाओ।'

वैसे ही हमारे लड़के जो शिक्षा पा रहे हैं, वह बड़ी निषेधात्मक है। स्कूल के लड़के कुछ भी नहीं सीखते, बल्कि जो कुछ अपना है, उसका भी नाश हो जाता है, और इसका परिणाम होता है—श्रद्धा का अभाव। जो श्रद्धा वेद-वेदान्त का मूल मंत्र है, जिस श्रद्धा ने नचिकेता को प्रत्यक्ष यम के पास जाकर प्रश्न करने का साहस दिया, जिस श्रद्धा के बल से यह संसार चल रहा है—उसी श्रद्धा का लोप! गीता में कहा है, **अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति**—अज्ञ तथा श्रद्धाहीन और संशययुक्त पुरुष का नाश हो जाता है।

इसीलिए हम मृत्यु के इतने समीप हैं। अब उपाय है--शिक्षा का प्रसार। पहले आत्मज्ञान। इससे मेरा मतलब जटाजूट, दण्ड, कमण्डलु और पहाड़ों की कन्दराओं से नहीं, जो इस शब्द के उच्चारण करते ही याद आते हैं। तो मेरा मतलब क्या है ? जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य संसार-बन्धन तक से छुटकारा पा जाता है, उससे क्या तुच्छ भौतिक उन्नति नहीं हो सकेगी ? अवश्य ही हो सकेगी। मुक्ति, वैराग्य, त्याग--ये सब उच्चतम आदर्श हैं, परन्तु गीता के अनुसार **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्**, अर्थात् इस धर्म का थोड़ा सा भाग भी महाभय (जन्म-मरण) से त्राण करता है। द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत, शैवसिद्धान्त, वैष्णव, शाक्त, यहाँ तक कि बौद्ध और जैन आदि जितने सम्प्रदाय भारत में स्थापित हुए हैं, सभी इस विषय पर सहमत हैं कि इसी जीवात्मा में अनन्त शक्ति अव्यक्त भाव से निहित है; चींटी से लेकर ऊँचे से ऊँचे सिद्ध पुरुष तक सभी में वह आत्मा विराजमान है, अन्तर केवल उसके प्रत्यक्षीकरण के भेद में है। **वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्** (पातंजल योगसूत्र, कैवल्य-पाद)--किसान जैसे खेतों की मेड़ तोड़ देता है और एक खेत का पानी दूसरे खेत में चला जाता है, वैसे ही आत्मा भी आवरण टूटते ही प्रकट हो जाती है। उपयुक्त अवसर और उपयुक्त देश-काल मिलते ही उस शक्ति का विकास हो जाता है। परन्तु चाहे विकास हो, चाहे न हो, वह शक्ति प्रत्येक जीव--ब्रह्मा से लेकर घास तक में--विद्यमान

है । इस शक्ति को सर्वत्र जा-जाकर जगाना होगा ।

यह हुई पहली बात । दूसरी बात यह है कि इसके साथ साथ शिक्षा भी देनी होगी । बात कहने में तो बड़ी सरल है, पर काम में किस तरह लायी जाय ? हमारे देश में हजारों निःस्वार्थ, दयालु और त्यागी पुरुष हैं। उनमें से कम से कम आधों को उसी तरीके से जिसमें वे विना पारिश्रमिक लिये घूम-घूमकर धर्मशिक्षा देते हैं, अपनी आवश्यकता के अनुरूप शिक्षा के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है । इसके लिए पहले प्रत्येक प्रान्त की राजधानी में एक एक केन्द्र होना चाहिए, जहाँ से धीरे धीरे भारत के सब स्थानों में फैलना होगा । मद्रास और कलकत्ते में हाल ही में दो केन्द्र वनें हैं, कुछ और भी जल्द होने की आशा है । एक बात और है, गरीबों को शिक्षा प्रायः मौखिक रूप से ही दी जानी चाहिए । स्कूल आदि का अभी समय नहीं आया है । धीरे धीरे उन मुख्य केन्द्रों में खेती, उद्योग आदि भी सिखाये जाएँगे और शिल्प की उन्नति के लिए शिल्पगृह भी खोले जाएँगे । उन शिल्पगृहों का माल यूरोप और अमेरिका में बेचने के लिए उन देशों की संस्थाओं के समान ही संस्थाएँ खोली जाएँगी । जिस प्रकार पुरुषों के लिए केन्द्र हैं, उसी प्रकार स्त्रियों के लिए खोलना आवश्यक होगा। पर आप जानती ही हैं कि ऐसा होना इस देश में बड़ा कठिन है । फिर भी इन सब कामों के लिए जिस धन की आवश्यकत्ता है, उसे इंग्लैण्ड आदि पश्चिमी देशों से

ही आना होगा, क्योंकि मुझे इस बात का दृढ़ विश्वास है कि जिस साँप ने काटा है, वही अपना विष भी उतारेगा। इसीलिए हमारे धर्म का यूरोप और अमेरिका में प्रचार होना चाहिए। आधुनिक विज्ञान ने ईसाई आदि धर्मों की भित्ति बिल्कुल चूर चूर कर दी है। इसके सिवाय विलासिता तो प्रायः धर्मवृत्ति का ही नाश करने पर तुली हुई है। यूरोप और अमेरिका आशा-भरी दृष्टि से भारत की ओर ताक रहे हैं। परोपकार का, शत्रु के किले पर अधिकार जमाने का यही समय है।

पश्चिमी देशों में नारियों का ही राज, उन्हीं का प्रभाव और उन्हीं की प्रभुता है। यदि आप जैसी वेदान्त जाननेवाली तेजस्विनी और विदुषी महिला इस समय धर्म-प्रचार के लिए इंग्लैण्ड जायँ, तो मुझे विश्वास है कि हर साल कम से कम सैकड़ों नर-नारी भारतीय धर्म ग्रहण कर कृतार्थ हो जाएँगे। अकेली रमाबाई ही हमारे यहाँ से गयी थीं; अंग्रेजी भाषा, पश्चिमी विज्ञान और शिल्प आदि में उनकी गति बहुत ही कम थी, तो भी उन्होंने सबको आश्चर्यचकित कर दिया था। यदि आप जैसी कोई वहाँ जायँ, तो इंग्लैण्ड हिल जाय, अमेरिका का तो कहना ही क्या! मैं दिव्य दृष्टि से देख रहा हूँ कि यदि भारत की नारियाँ देशी पोशाक पहनें भारतीय ऋषियों के मुँह से निकले हुए धर्म का प्रचार करें, तो एक ऐसी बड़ी तरंग उठेगी, जो सारे पश्चिमी संसार को डुबा देगी। क्या मैत्रेयी, खना, लीलावती, सावित्री और उभयभारती की इस जन्मभूमि

में किसी और नारी को यह करने का साहस नहीं होगा ? प्रभु ही जानता है । इंग्लैण्ड पर हम लोग अध्यात्म के वल से अधिकार कर लेंगे, उसे जीत लेंगे—**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**—इसके सिवाय मुक्ति का और दूसरा मार्ग ही नहीं । क्या सभा-समितियों के द्वारा भी कभी मुक्ति मिल सकती है ? अपने विजेताओं को अपनी अध्यात्म-शक्ति से हमें देवता वनाना होगा । मैं तो एक नगण्य भिक्षुक परिव्राजक हूँ, अकेला और असहाय ! मैं क्या कर सकता हूँ ? आप लोगों के पास धन है, बुद्धि है और विद्या भी है—क्या आप लोग इस मौके को हाथ से जाने देंगी ? अव इंग्लैण्ड, यूरोप और अमेरिका पर विजय पाना—यही हमारा महाव्रत होना चाहिए। इसी से देश का भला होगा। विस्तार ही जीवन का चिह्न है, और हमें सारी दुनिया में अपने आध्यात्मिक आदर्शों का प्रचार करना होगा। हाय ! मेरा शरीर कितना दुर्बल है, तिस पर बंगाली का शरीर—इस थोड़े परिश्रम से ही प्राणघातक व्याधि ने इसे घेर लिया। परन्तु आशा है कि **उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समान-धर्मा, कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी** । (भवभूति) —अर्थात् मेरे समान गुणवाला कोई और है या होगा, क्योंकि काल का अन्त नहीं और पृथ्वी भी विशाल है ।...

सर्वशक्तिमती विश्वेश्वरी आपके हृदय में अवतीर्ण हों।

भवदीय,

विवेकानन्द

श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

कुछ ही दिन हुए माँ कठिन रोग से मुक्त हो स्वस्थ हुई हैं, पर शरीर अभी भी पूर्ण रूप से सबल और स्वस्थ नहीं हो पाया है। पथ्यादि के बँधे नियमों का अभी भी पालन करना पड़ता है। इसी बीच एक दिन दोपहर के भोजन के समय अधिक लोग आ गये। लड़कों को खिलाने के बाद माँ लड़कियों के साथ भोजन करने बैठीं। दोपहर को बना गरम भात थोड़ा कम पड़ेगा, पर बासी भात काफी बचा है। महिलाओं ने तय किया कि और भात बनाने की आवश्यकता नहीं, वे लोग थोड़ा थोड़ा बासी भात खा लेंगी। उससे चल जायगा, क्योंकि वे लोग तो बासी भात खाने की आदी हैं। परोसने के समय जब दूसरों की पत्तल में बासी भात परोसा गया, तो माँ ने भी आग्रह किया कि उन्हें भी बासी भात परोसा जाय। सब लोग तो बासी भात खायँ और वे अकेली गरम भात, ऐसा कभी हो सकता है ? उनके मुख में वह अन्न नहीं समाएगा। महिलाओं ने, विशेषकर उनकी अनुगत शिष्या और सेविका, नवासन की बहू, ने अनेक अनुनय-विनय की, हाथ जोड़कर प्रार्थना की, पर माँ को नहीं डिगा पायीं। अपनी लाड़लियों के साथ माँ ने थोड़ा बासी भात खाया ही। आनन्दपूर्वक गप-शप करते हुए भोजन के अन्त में माँ ने कहा, "देखना, लड़कों को इस बात का पता न चले।"

किन्तु बाद में नवासन की बहू ने अत्यन्त शंकित होकर कि माँ को कहीं कुछ हो न जाय, घर का कारबार देखनेवाले माँ के एक शरणागत पुत्र को सारी बातें बता दीं। उन्होंने अत्यन्त दुखी हो रोते रोते कहा, "भैया. आपको बताये बिना नहीं रह सकी, मेरा हृदय फटा जा रहा है। न जाने क्या हो जाय। अभी अभी इतना कष्ट पाकर माँ कठिन रोग से छूटी हैं।" सेवक विस्मित हो उनके मुँह की ओर ताकते रहे--दीदी बोलती जा रही हैं और आँसू झरते हुए उनके गालों पर से बह रहे हैं। वे कहने लगीं, "माँ ने परसों दोपहर को बासी भात खाया है। उनसे अनेक विनय की, हाथ जोड़े, सभी ने मना किया, पर उन्होंने किसी की न सुनी। गरम भात कम पड़ गया था, बासी भात था। हम लोगों ने थोड़ा थोड़ा खाया। सबके साथ उन्होंनें भी खाया। मुझे डर लग रहा है कि कहीं कुछ हो न जाय, कहीं वे फिर से बीमार न पड़ जायँ।" सेवक ने उन्हें आश्वस्त कर वापस भेजा। मुँह से कह तो अवश्य दिया कि डर की कोई बात नहीं है, कुछ नहीं होगा, किन्तु मन में कई दिनों तक वे शंकित बने रहे। भले ही और किसी कारण से हो, पर माँ कहीं पुनः बीमार हो गयीं और यह बासी भात खाने की बात पता चल गयी, तो किसी को मुँह दिखाने लायक अवस्था नहीं रह जायगी।

नवासन की बहू बड़ी सौभाग्यशालिनी थी। माँ के अन्तिम कुछ वर्ष छाया के समान उनके साथ रहकर

उन्होंने माँ की जो सेवा की, उसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। माँ की सभी दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति, उनकी सेवा-शुश्रूषा, विशेष रूप से उनके अस्वस्थ होने पर मल-मूत्रादि साफ करना, कपड़े धोना, यह सब वे इतनी श्रद्धा, प्रेम और भक्ति से करतीं कि उसे वही समझ सकता है, जिसने देखा है। सचमुच उन्होंने जगदम्बा की एक आधार में माँ तथा पुत्री के रूप में सेवा कर अपना जीवन सार्थक कर लिया। निस्सन्देह, सेवा का यह शुभ अवसर उनके अनेक जन्मों के सत्कर्मों का ही फल था। इस प्रकार सेवा का सौभाग्य और किसी को प्राप्त हुआ था ऐसा नहीं लगता।

माँ के जिन पुत्र-पुत्रियों को उनके सान्निध्य में कुछ दिन रहने का सौभाग्य प्राप्त होता, उनके बीच भाई-बहिन का सम्बन्ध दृढ़ करा माँ उन लोगों के मन को शुद्ध तथा दृष्टि को पवित्र करने का उपाय कर देतीं। महिलाएँ और पुरुष सदैव अलग अलग रहते। बिना काम के बातचीत, मिलने-जुलने, चर्चा आदि का प्रसंग ही न आता और यदि कभी किसी काम से सबका एक साथ मिलना होता भी, तो वह काम झटपट समाप्त करना होता। इतना होने पर भी रहना और खाना तो एक ही घेरे में करना पड़ता। फिर कब क्या काम पड़ जाय, इसका क्या ठिकाना? इसलिए लड़के-लड़कियों का मिलना-जुलना एकदम बन्द नहीं किया जा सकता था। पर उससे क्या? माँ की उपस्थिति में उनके

प्रभाव से उनके घर में लड़के-लड़कियों में परस्पर भाई-बहिन के अतिरिक्त और कोई भाव उठता ही नहीं था। वे लोग एक-दूसरे को भैया-दीदी कहकर सम्बोधित करते। माँ भी लड़कों के हृदय में अपने प्रति मातृभाव दृढ़ कराने के लिए तथा संकोची लड़कों का संकोच दूर करने के लिए उनसे 'माँ' कहकर पुकारने को कहतीं और उन लोगों के मुँह से 'माँ' की पुकार सुनना चाहतीं। ऐसे ही एक लड़के को माँ किसी काम से कहीं भेज रही हैं। उससे कहती हैं, "जाकर कहना, माँ ने कहा है।" लड़के ने बात चुपचाप सुन ली। माँ ने पूछा, "क्या कहोगे जरा सुनूँ।" संकोची लड़के ने उत्तर दिया, "कहूँगा, आपने कहा है।" माँ ने सुधारकर कहा, "नहीं! कहना, माँ ने कहा है, समझे?" लड़के को अन्ततोगत्वा कहना पड़ा, "कहूँगा, माँ ने कहा है।" माँ ने प्रसन्न दृष्टि से लड़के की ओर देखा। और लड़का भी प्रसन्न होकर चला गया। वे अपनी शरणागत सन्तानों के पारस्परिक सम्बन्धों को शुद्ध और दृढ़ बनाने के लिए लड़कों से यों कहतीं, 'अपने मँझले मामा से अमुक बात कह आओ तो', 'सँझली मामी है क्या? जरा देख आओ!' 'दीदी को बुला लाओ', आदि। उसी प्रकार वे लड़कियों से कहतीं, 'तुम्हारे भैया को बुला लाओ', 'भैया को परोसो', आदि। इस प्रकार की व्यावहारिक शिक्षा द्वारा माँ उनके हृदयों में विशुद्ध भाव दृढ़ कर देतीं। यहाँ तक कि नौकर-नौकरानियों के साथ भी निकट का सम्बन्ध

बनाकर घर-गृहस्थी का काम चलता। समाज के इस प्राचीन नियम के, सबके प्रति आत्मीयता के भाव के, लुप्त हो जाने के कारण ही आज मनुष्य इतने द्रुत वेग से अधोगति की ओर जा रहा है।

गृहस्थ होकर घर में रहे या संन्यासी होकर वन में चला जाय, जब तक अन्तःकरण शुद्ध और दृष्टि पवित्र नहीं होती, मनुष्य इन्द्रियों की आसक्ति से मुक्त नहीं हो सकता। भूतकाल के हमारे विचार और कर्म ही संस्कार के रूप में अन्तःकरण में रहकर सर्वदा हमें प्रेरित करते और नचाते रहते हैं। यदि हम अपनी विचारप्रणाली और दृष्टिकोण में परिवर्तन कर चलना सीख सकें, तो क्रमशः हमारा चित्त शुद्ध होकर आसक्ति कम हो सकती है। आज मनुष्यसमाज में कार्यक्षेत्र ही ऐसा हो गया है कि स्त्री और पुरुष परस्पर मिलने को विवश हैं। सारी पृथ्वी एक परिवार बन जा रही है; शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यवसाय, राजनीति सभी क्षेत्रों में, देश-विदेश में, स्त्री-पुरुष यदि एक साथ न रहें, तो काम नहीं चल सकता। जंगल आज जनपदों और नगरों में परिवर्तित हो रहे हैं। सर्वत्र सबका आवागमन लगा हुआ है। अतः निस्संग होकर जीवन धारण करना कठिन हो उठा है। इसीलिए शायद, माँ, अपने पुत्र-पुत्रियों को समयानुकूल गढ़ने के लिए तुम्हारी यह अनूठी शिक्षाप्रणाली है! तुम चाहती हो कि संन्यासी या गृही कोई भी क्यों न हो, अपने अन्तःकरण में अपना भाव सुरक्षित रख वह

अग्रसर होए, जीवन ऊँचा उठाए। हम सभी एक ही माँ की सन्तानें हैं——अतः भाई-बहन हैं। सभी स्थान माँ का ही घर है। अपने अपने भाव में रहकर हम परस्पर एक-दूसरे की सहायता करेंगे। जिसके पेट में जो सहे, माँ वही खिला रही है। इस प्रकार की शिक्षा देकर माँ ने अपनी सन्तानों द्वारा असम्भव को कैसे सम्भव कर दिया है, यह सोचकर विस्मय होता है।

सँझली मामी बड़ी अस्वस्थ हैं। छोटे लड़के विजय के जन्म पश्चात् अभी वे सौरी में ही हैं। प्रसव के समय बड़ा कष्ट हुआ है। उसी का परिणाम है कि पेट फूल गया है। चिकित्सक ने कहा है, अलसी की पुलटिस गरम कर सेंक करनी होगी। लोग कम हैं। सभी समय सेंकना होगा। माँ बड़ी चिन्तित हैं। हमेशा खबर लेती रहती हैं। अन्ततोगत्वा कोई उपाय न देख उन्होंने अपनी एक सन्तान से कहा, "देखो बेटा, तुम्हारी सँझली मामी बहुत बीमार है। उसे बड़ा कष्ट है। देख-रेख करने-वाला कोई नहीं है। तुम यदि उसकी थोड़ी सेवा-शुश्रूषा कर सको, तो उसके प्राण बचें।" पुत्र ने माँ का अभि-प्राय समझ लिया और आनन्दपूर्वक मामी की सेवा में लग गया। माँ बड़ी प्रसन्न हुईं। पुत्र के मन में भी तृप्ति हुई। उसे ऐसा अनुभव होने लगा मानो अपनी जन्मदात्री माँ की ही सेवा कर रहा है। स्वस्थ होने के कुछ दिनों पश्चात् मामी को एक फोड़ा हो गया। बड़ी पीड़ा होती। ऐसे समय माँ का एक डाक्टर-पुत्र वहाँ

आ उपस्थित हुआ। माँ की इच्छानुसार वे ही मामी की शल्य-चिकित्सा कर उपचार करने लगे। अवकी वार सेवा की असुविधा नहीं थी। माँ ने एक गरीब लड़की को मासिक वेतन पर सेवा के लिए नियुक्त कर रखा था।

माँ का स्नेह सभी सन्तानों पर समान होने पर भी जिसकी जैसी आवश्यकता, जिसके पेट में जो सहे, उसके अनुसार उन्हें व्यवस्था करनी पड़ती थी। पर वे इतनी सावधानी और होशियारी से वह सब करतीं कि वह सन्तानों में परस्पर ईर्ष्या-द्वेष का कारण नहीं होता। कोयालपाड़ा आश्रम के एक प्रधान कार्यकर्ता स्वामी विद्यानन्द (राजेन महाराज) माँ के घर पर आये। प्रणाम कर माँ का आशीर्वाद ले उन्होंने निवेदन किया कि उनकी काशी जाने की इच्छा है, वहाँ आश्रम में अच्छा नहीं लगता, मनोमालिन्य है, स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। जब उन्होंने इसके लिए माँ से अनुमति चाही, तो माँ ने उन्हें अन्यत्र कहीं न जा कुछ दिन अपने पास जयरामवाटी में ही आकर रहने के लिए कहा। राजेन महाराज का मन प्रफुल्लित हो उठा। कुछ दिनों वाद ही वे माँ के घर आकर रहने लगे। वे बड़े काम के आदमी थे, सरल और निष्ठावान भक्त थे। उनके आने से माँ के घर के काम-काज में बड़ी सुविधा हो गयी तथा माँ का मन भी प्रफुल्लित हो उठा। उस समय माँ का एक और पुत्र भी वहाँ कारबार देखा करता था। राजेन महाराज के साथ उसका बड़ा स्नेह-सम्बन्ध था।

दोनों मित्र आनन्दपूर्वक एक साथ रहने लगे। पूजा के पश्चात् माँ प्रतिदिन ठाकुर के प्रसाद का मिश्री का शरवत पिया करतीं। यह उनकी आदत बन गयी थी। वैसे उनके स्वास्थ्य के लिए भी वह विशेष रूप से आवश्यक था। कहना होगा कि वही उनका सुबह का प्रमुख जलपान था। इससे पित्त का शमन होता। पूजा समाप्त कर यह प्रसादी शरवत ग्रहण करने के पश्चात् माँ अपनी सन्तानों को जलपान कराया करतीं। याद हो आती है माँ की वह सुमधुर पुकार--"बेटे! आओ, देर हो रही है, जलपान कर लो!" स्मरण करने पर प्राण व्याकुल हो उठते हैं। इच्छा होती है पक्षी हो उड़कर उसी बरामदे में चला जाऊँ, जहाँ आसन बिछा हुआ है, पानी का ग्लास रखा हुआ है और काँसे की छोटी थाली में मुरमुरा और गुड़ रखा है; जहाँ पत्तल में प्रसादी फल और मिठाई रख, 'बछड़े की प्रतीक्षा में गाय के समान' व्यग्र हो माँ सस्नेह दृष्टि से दरवाजे की ओर देख रही हैं। किन्तु हाय! अब तो वह सौभाग्य प्राप्त होगा नहीं। सारा संसार ढूँढ़ने पर भी वह मातृ-स्नेह अब नहीं मिल सकता।

लड़कों का जलपान हो जाने पर लड़कियों को जलपान देकर माँ स्वयं भी थोड़ा कुछ ग्रहण करतीं। भक्तों द्वारा लायी गयी मिठाई और फल तो दूसरे लोग ही खाते। माँ तो केवल कणिका मात्र ही मुँह में लगातीं। थोड़ सा मुरमुरा ही उनका जलपान था। पर

अब दाँत गिर गये हैं। चबा नहीं सकतीं। इसलिए मुरमुरा आँचल में बाँध लोढ़े से उसे चूरा कर लेतीं और नवासन की बहू को पुकारकर कहतीं, "बहू ! थोड़ा नमक-मिर्च देना तो।"

राजेन महाराज और वह दूसरा लड़का उपस्थित रहने पर वे दोनों और अन्यान्य लड़के सब एक साथ बैठकर मुरमुरा या भात खाते। आनन्दपूर्वक गपशप करते। काम-काज के कारण कभी कभी इसमें व्यतिक्रम हो जाता, तब वे अलग अलग भोजन करते।

कुछ दिनों पश्चात् इस दूसरे लड़के को अकेले पा माँ ने कहा, "बेटा, आग की गरमी में राँधते राँधते राजेन का माथा जरा गरम हो गया था। आश्रम में उसकी अनबन भी थी। शरीर भी स्वस्थ नहीं था। फिर वहाँ रात-दिन जी-तोड़ परिश्रम। काशी चला जाना चाहता था। यहाँ मुझसे बिदाई लेने आया था। उसे समझा-बुझाकर यहाँ रहने को राजी किया है। कुछ दिन यहाँ रहने पर माथा ठण्डा हो जायगा। शरीर भी थोड़ा स्वस्थ हो जायगा, जिससे वह फिर से आश्रम में जाकर काम-काज कर सकेगा। रोज सुबह उसे थोड़ासा प्रसादी शरबत देती हूँ। इससे उसका शरीर ठण्डा रहेगा।" माँ ने ये बातें इतने स्नेहार्द्र और कातर स्वर में कहीं कि सेवक लड़के का मन विगलित हो राजेन के प्रति स्नेह और सहानुभूति से भर गया। उसे यह पता ही नहीं था कि पूजा के बाद माँ राजेन को कमरे में

बुलाकर स्वयं मिश्री का शरबत पिलाती हैं। अन्य किसी को भी यह बात मालूम थी ऐसा नहीं लगता। बाद में उसने देखा कि माँ राजेन को कमरे में बुलाकर, थोड़ासा शरबत अपने मुँह में डाल शरबत की कटोरी राजेन के मुँह की ओर बढ़ा देतीं। वे भी तत्काल उसे पीकर, कटोरी धो, यथास्थान रख देते। सेवक माँ का स्नेह और ममता देख मुग्ध हो गया। माँ का कम शरबत पीना उसे पसन्द न होने पर भी वह कोई प्रतिवाद न कर सका। सेवक के मन में कोई द्वन्द्व या दुराव न आ जाय, इसीलिए तो माँ ने सारी बातें स्वयं उससे कह उसका मन ठीक कर दिया था। राजेन महाराज जिस प्रकार कठोर व्रती थे तथा माँ के प्रति उनकी जैसी असीम निष्ठा-भक्ति थी, उसे देखते हुए उनका इस प्रकार सहज ही शरबत पीने को राजी हो जाना सम्भव न था। किन्तु माँ का आदेश तथा खाने-पीने के सम्बन्ध में उनकी ममता का हाथ न तो कोई हटा पाया, और न कोई हटा ही सकता था। राजेन महाराज दो माह से भी कुछ अधिक समय जयरामवाटी में रह, स्वस्थ और सबल हो, पुनः कोयालपाड़ा आश्रम लौट कठोर कर्म में जुट गये थे।

माँ के देहत्याग के पश्चात् उनके जन्मस्थान में मन्दिर-निर्माण के समय राजेन महाराज ने अथक परिश्रम कर आरम्भ किये गये कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने में विशेष योगदान दिया था। मन्दिर-निर्माण के

पश्चात् उन्हें ही प्रथम सेवक नियुक्त किया गया था। अतीव श्रद्धा एवं भक्ति से एक वर्ष से कुछ अधिक समय तक सारे कार्य सुचारु रूप से संचालित करते हुए वे माँ के चरणकमलों में चिरकाल के लिए लीन हो गये। अत्यधिक परिश्रम, मलेरिया, भोजन आदि में अत्यन्त कठोरता इत्यादि के कारण अल्पायु में ही इस निष्ठावान कर्मठ सेवक के देहत्याग से सारदानन्दजी महाराज को गहरा दु:ख हुआ था। महाराज उस समय काशी में थे। व्यथित हृदय से वहाँ के अध्यक्षगणों से कहा था, "लड़कों के खाने-पीने और रहने का उचित प्रबन्ध करो। उनकी देखभाल करो। देखो न, ऐसा अच्छा लड़का, भोजन का ठीक ठीक प्रबन्ध न होने के कारण परिश्रम करते करते अल्पायु ही में चल बसा!" देहत्याग के समय राजेन महाराज के अत्युच्च भाव-भक्ति को देख उपस्थित सभी लोगों का हृदय विस्मय और पुलक से भर उठा था।

(क्रमश:)

●

जैसे हाथ में तेल लगाकर कटहल का फल चीरने से हाथ में उसका लस नहीं लगता, वैसे ही ज्ञान प्राप्त होने पर संसार में रहने पर भी मन में काम और कांचन नहीं लगते।

—श्रीरामकृष्ण

धर्म-प्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

अनुवादक—स्वामी व्योमानन्द

(गतांक से आगे)

स्थान—अद्वैत आश्रम, वाराणसी

फरवरी १९२१

प्रश्न——ध्यान-भजन कर रहा हूँ, किन्तु उसमें किसी प्रकार का taste (रस) नहीं पा रहा हूँ, मानो जबरदस्ती कर रहा हूँ। इसका क्या उपाय है ?

महाराज——सो क्या एकदम से हो जाता है ? नहीं होता——इसके लिए बहुत struggle (चेष्टा) करनी पड़ती है। तुममें जितनी energy (कार्यशक्ति) है, पूरी की पूरी उधर लगाओ। अन्य किसी भी तरफ देखना नहीं, दूसरी किसी भी तरफ energy direct (शक्ति नियोजित) मत करना। बढ़े जाओ, बढ़े जाओ। कभी भी satisfied (सन्तुष्ट) नहीं होना। एक प्रकार की अशान्ति create (उत्पन्न) करने की चेष्टा करो——मेरा क्या हो रहा है, कुछ भा तो नहीं हो रहा है, इस तरह सोचकर। ठाकुर कहते थे, "माँ, और एक दिन बीत गया, पर तूने अभी भी दर्शन न दिये !" रोज रात में सोने से पहले एक वार आत्मविश्लेषण करना कि कितना समय अच्छे कार्य में बीता और कितना बुरे में, कितना समय उनके चिन्तन और ध्यान-भजन में बीता और कितना आलस्य-प्रमाद में। तपस्या और ब्रह्मचर्य के द्वारा मन को strong (शक्ति-सम्पन्न) कर डालो। वड़े आदमियों की कोठी में दरवान रहता है; उसका काम है चोर, जानवर आदि को भगाना।

उसी प्रकार मन है दरवान। मन जितना strong (बलिष्ठ) होगा, उतना अच्छा। मन की तुलना दुष्ट घोड़े के साथ की गयी है। दुष्ट घोड़ा गलत रास्ते में ले जाता है। जो लगाम खींचकर रख सकता है, वही ठीक चलता है। खूब struggle (चेष्टा) करो। तुम लोग कर क्या रहे हो? गेरुआ पहनने से और संसार का त्याग करने से ही क्या सब हो गया? क्या हुआ है तुम लोगों का? समय बीतता जा रहा है। अब एक मुहूर्त भी waste (नष्ट) मत करो। अधिक से अधिक तीन-चार वर्ष और कर सकोगे, बाद में शरीर और मन दुर्बल हो जायगा। तब फिर कुछ भी नहीं कर सकोगे। मेहनत किये बिना क्या कुछ होता है? तुम लोग शायद सोचते हो कि पहले अनुराग और भक्ति-विश्वास हो, फिर बाद में पुकारेंगे। वैसा क्या कभी होता है? अरुणोदय हुए बिना क्या कभी प्रकाश आता है? उनके आने पर प्रेम, भक्ति और विश्वास सब साथ साथ आएँगे। उन्हें जानने के लिए ही तपस्या करनी पड़ती है। तपस्या बिना क्या कहीं कुछ होता है? ब्रह्मा ने पहले सुना था, "तप, तप, तप।" देखते नहीं, अवतारी पुरुषों को भी कितना परिश्रम करना पड़ा है? बिना मेहनत किये क्या किसी ने कुछ पाया है? बुद्ध, शंकर, चैतन्य इन लोगों को भी कितनी तपस्या करनी पड़ी है। अहा! कितना त्याग, कितनी तपस्या!

विश्वास क्या एकदम से हो ज ता है? Realisation (अनुभूति) होने पर ही विश्वास होता है। पर उसके

पहले गुरु और महापुरुषों की वाणी में विश्वास रख, blind faith (अन्ध विश्वास) रख चलना होगा। ठाकुर की वह सीपीवाली कहानी जानते हो तो? स्वाति-नक्षत्र के एक बूँद जल के लिए सीपी मुँह खोलकर तैरती रहती है। एक बूँद पाते ही वह अथाह पानी में डूब जाती है और जाकर मोती तैयार करती है। वैसे ही तुम लोगों ने भी गुरुकृपारूपी एक बूँद जल पाया है। जाओ, डूब जाओ।

तुम लोगों में self-reliance (आत्म-विश्वास) नहीं है। साधनापथ में पुरुषार्थ की आवश्यकता है। कुछ करो—कम से कम चार वर्ष तक करो तो सही। यदि कुछ न हो, तो मेरे गाल पर एक चाँटा मारना। तम और रज को लाँघ सत्त्व में न जा सकने से जप-ध्यान कुछ भी नहीं होता। फिर सत्त्व के भी परे चले जाना होगा। ऐसे स्थान में जाना होगा, जहाँ से फिर वापस न आना पड़े। मनुष्य-जन्म कितना दुर्लभ है। अन्य प्राणियों को ज्ञान-लाभ नहीं होता। केवल मनुष्य-जन्म में ही भगवान्-लाभ होता है, और वही करना भी होगा। इसी जन्म में परिश्रम कर मन को ऐसे स्थान में ले जाना होगा, जिससे फिर जन्म न लेना पड़े। पहले मन को स्थूल से सूक्ष्म में, फिर सूक्ष्म से कारण में, कारण से महाकारण में और महाकारण से महासमाधि में ले जाना होगा।

अपने को पूरी तरह उनके पादपद्मों में निछावर कर दो। उनके सिवा और कुछ भी नहीं है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म।" वे ही सब हैं, सभी उनका है। कुछ calculate

(हिसाव) मत करो। Self-surrender (आत्मसमर्पण) क्या एक दिन में होता है? वह होने से तो सभी हो गया। उसके लिए खूब struggle (चेष्टा) करनी पड़ती है। अनन्त जीवन सामने है। अधिक से अधिक मनुष्य की आयु एक सौ वर्ष की होती है, यदि eternal happiness (अनन्त सुख) चाहते हो, तो इस एक सौ वर्ष का सुख छोड़ देना होगा।

स्थान–मद्रास मठ

जून १९२१

प्रश्न—महाराज, हम लोग सव छोड़-छाड़कर आये हैं, तो भी मन के गोलमाल नहीं जाते; पाँच लोग एक साथ मिलकर नहीं रह सकते।

उत्तर—देखो, वच्चे, सब सहते जाना। ठाकुर कहते थे, "जो सहता है, वह रहता है।" देखो, पाँच लोगों के साथ मिल-जुलकर रहने के समान क्या कोई अन्य गुण है? संसार में कितना सहन करना पड़ता है। जो लोग दूसरों के मन को कष्ट देते हैं, उन लोगों का क्या कभी कल्याण होगा?

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।" —सत्य बोलना, प्रिय बोलना, किन्तु सत्य अप्रिय होने से मत बोलना। अप्रिय सत्य बोलने से यदि किसी के मन को कष्ट पहुँचता है, तो वैसा कभी मत बोलना। यही देखो न, मेरे पास भले-बुरे कितने प्रकार के लोग आते हैं—सभी के प्रति समान रूप से स्नेह प्रदर्शित करता हूँ।

बुरे लोग आने से यदि उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाय, तो वे जायँ कहाँ ? सनक-सनातन के समान लोगों को लेकर तो सब रह सकते हैं, सब प्रकार के लोगों को लेकर रहना ही असल है।

प्रश्न--महाराज, महापुरुषों के बारे में जो स्वप्न होते हैं, वे क्या सत्य होते हैं ?

उत्तर--हाँ, पूर्ण सत्य। महापुरुष लोग स्वप्न में दर्शन देते हैं। वे कृपा करके स्वप्न में बहुत कुछ कर देते हैं। देवी-देवता, इष्ट और महापुरुषों के बारे में स्वप्न पूर्ण सत्य होते हैं। ये सब स्वप्न जिस-तिसको नहीं कहना ही अच्छा। उनका impression (प्रभाव) और effect (फल) बहुत दिनों तक रहता है।

प्रश्न--महाराज, सुना है कि ठाकुर फिर से वर्धमान के आसपास शीघ्र ही आएँगे, क्या यह सत्य है ?

उत्तर--कहाँ, वैसा तो सुना नहीं। वायव्य दिशा में फिर से आएँगे ऐसा सुना है।

प्रश्न--महाराज, कोई कहते हैं एक सौ वर्ष बाद और कोई कहते हैं दो सौ वर्ष बाद वे आएँगे।

उत्तर--मैं समय के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता--कुछ सुना भी नहीं है।

●

मैं सेवक रघुपति पति मोरे

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

गुरु वसिष्ठ ऐसा मानते हैं कि श्री भरत जो भी समझते, कहते और करते हैं, वह धर्म का सार है। गुरु वसिष्ठ ने श्री भरत के प्रति यह शब्द बड़ी परीक्षा के बाद कहा। प्रारम्भ में धर्म की व्याख्या को लेकर गुरु वसिष्ठ और श्री भरत में मतभेद परिलक्षित होता है। वसिष्ठ धर्म का जो रूप प्रस्तुत करते हैं, भरत उससे सहमत नहीं होते। गुरु वसिष्ठ की भावना यह थी कि श्री भरत पिता की आज्ञा मान राज्य स्वीकार कर लें, यह धर्मानुकूल होगा। पर भरत इससे सहमत नहीं होते। ऐसी बात नहीं कि भरत कर्तव्य-कर्म से भागना चाहते हों। पर उनके विचार का जो केन्द्र है, वह गुरु वसिष्ठ के केन्द्र से भिन्न है। कैसे ? साधारणतः हम समाज में जिसे धर्म कहते हैं, वह बुद्धिनिष्ठ है। इसका तात्पर्य यह है कि जब हमारे मन में स्वार्थ, वासना तथा नाना प्रकार के असत्-संकल्पों के माध्यम से विकार उत्पन्न होते हैं, तव हम शास्त्रों का अध्ययन-मनन कर बुद्धि के द्वारा मन पर नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास करते हैं। बुद्धि से जो यथार्थ प्रतीत होता है, उसी को हम साधारणतः धर्म समझ जीवन में स्वीकार करते हैं। पर यह बुद्धिनिष्ठ धर्म समय पर काम नहीं दे पाता। समस्या तब आ खड़ी होती है, जब बुद्धि और मन में द्वन्द्व उत्पन्न

होता है। मन स्वभाव से ही विषयों में रस लेने का अभ्यस्त है और हम बुद्धि द्वारा उसे विपरीत सत्य का दर्शन कराना चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि व्यक्ति बुद्धि से एक दिशा की ओर जाना चाहता है और उसका मन उसे दूसरी दिशा में खींचता है। अगर किसी व्यक्ति के दोनों पैरों में रस्सी बाँध दी जाय और रस्सियों को विपरीत दिशा में खीचा जाय, तो व्यक्ति चल तो पाएगा नहीं अपितु केवल पीड़ा का ही अनुभव करेगा। इसी प्रकार भले हम बुद्धि द्वारा सत्य को जान लें, पर यदि हमारा मन हमें विपरीत दिशा में ले जाय, तो इन दोनों के बीच पड़ा बेचारा जीव अपने आप में बड़े संकट का अनुभव करेगा।

'मानस' में एक विलक्षण संकेत आता है——जब भगवान् राघवेन्द्र और रावण का युद्ध होता है, तो श्री राघवेन्द्र रावण की भुजाएँ और सिर काटने के लिए तीस बाणों का प्रयोग करते हैं। उनके बाण लगते ही भुजाएँ और सिर कटकर अलग हो जाते हैं, पर आश्चर्य की बात यह है कि रावण को फिर से नये सिर और नयी भुजाएँ प्राप्त हो जाती हैं इसका तात्पर्य क्या ? त्रेतायुग का यह जो भौतिक सत्य है, वह प्रत्येक युग के लिए मानसिक सत्य है, जिसका अनुभव जीवन में प्रत्येक व्यक्ति को होता है। श्री जानकीजी त्रिजटा से पूछती हैं——यह कैसा आश्चर्य कि भगवान् राम के बाण से रावण के सिर कटने पर भी वह नहीं मरता ?——

रघुपति सर सिर कटेहुँ न मरई।
बिधि विपरीत चरित सब करई ॥ ६/९८/५

--विधाता ही सारा विपरीत कार्य कर रहा है। भगवान् के अमोघ बाणों से रावण के सिर और भुजाएँ तो कट जा रही हैं, पर फिर से नये सिर और भुजाएँ उत्पन्न हो जा रही हं और वह दुष्ट मर नहीं रहा है। इसका कारण क्या ? इस पर त्रिजटा ने जो कहा, वह जीवन का एक सत्य है। वह बोली--"जब तक भगवान् राम रावण के हृदय में प्रहार नहीं करेंगे, वह मरेगा नहीं।" त्रिजटा के इस कथन के पीछे एक बड़ा दार्शनिक विश्लेषण है। उसका तात्पर्य यह है कि भुजा कर्म की प्रतीक है। इसके माध्यम से व्यक्ति कर्म करता है। और सिर है बुद्धि का प्रतीक, क्योंकि मस्तिष्क विचार का केन्द्र है। यदि व्यक्ति कर्म और बुद्धि द्वारा प्रतिपादित तत्त्व को ही धर्म मान बैठे, तो सही बात नहीं होगी। व्यक्ति सत्संग में जाता है, शास्त्र-ग्रन्थों का अध्ययन करता है और सोचने लगता है कि वह धार्मिक हो गया। उसे लगता है कि उसके सारे कुसंस्कार नष्ट हो गये, रावण का सिर कट गया। पर ज्योंही सत्संग-भवन के बाहर होता है, तो देखता है कि रावण का सिर पुनः अपनी जगह पर है। उसकी धार्मिकता क्षणिक ही थी। सच्चे अर्थों में धर्म व्यक्ति और समाज में तब आएगा, जब व्यक्ति की केवल बुद्धि और क्रिया में नहीं वरन् हृदय में परिवर्तन होगा। जब तक रावण के केवल सिर और

भुजाओं पर प्रहार होता रहेगा, रावण नष्ट नहीं होगा। वह मरेगा तभी, जब उसके हृदय पर प्रहार होगा। इसलिए त्रिजटा कहती है——जब भगवान् राम तीस के बदले इकतीस बाण मारेंगे और इकतीसवाँ बाण जब रावण के हृदय में लगेगा, तब रावण की मृत्यु होगी। जब तक धर्म केवल बुद्धि में रहेगा, यत्किंचित् क्रिया में रहेगा, तब तक सही धर्म या धर्मसार जीवन में नहीं आ सकता। इसीलिए श्री भरत गुरु वसिष्ठ के धर्मोप-देश के उत्तर में एक वाक्य कहते हैं——

कहउँ साँचु सब सुनि पतिआहू।
चाहिअ धरमसील नरनाहू ॥२/१७८/१

——'आप लोग मेरी बात को सत्य समझ लीजिए, समाज को धार्मिक राजा की नहीं वरन् धर्मशील राजा की आवश्यकता है।'

धार्मिकता और धर्मशीलता में अन्तर है। जैसे अध्य-यन तो सभी करते हैं, पर अध्ययनशील सभी नहीं होते। दान तो बहुत से लोग देते हैं, पर सभी दानशील नहीं होते। शील का तात्पर्य क्या? शील साधारणतया स्वभाव की मृदुता के अर्थ में प्रयुक्त होता है। किसी का स्वभाव यदि मृदु और कोमल हो, तो हम व्यवहार में कहते हैं कि ये बड़े शीलवान हैं। अतः जब तक धर्म हमारी बुद्धि में है, तब तक वह धर्म है, पर जब वह हमारे स्वभाव का एक अंग बन जाय, शील के रूप में परिवर्तित हो जाय, तो वह धर्मसार कहलाएगा। 'रामचरितमानस'

में ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं, जहाँ व्यक्ति को उसकी क्रियाओं और विचारों को धर्मयुक्त मानकर राज्य दिया गया, किन्तु जब जीवन में परीक्षा का अवसर आया, तो ऐसे बड़े बड़े व्यक्ति भी धर्म के मार्ग से च्युत देखे गये। जैसे—

ससि गुर तिय गामी नघुषु चढ़ेउ भूमिसुर जान।
लोक बेद तें बिमुख भा अधम न बेन समान॥ २/२२८

सहसबाहु सुरनाथु त्रिसंकू।
केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥ २/२२८/१

इसका कारण यह था कि धर्म उनकी बुद्धि का, क्रिया का अंग बना हुआ था, पर हृदय का अंग नहीं बन पाया था, और इसीलिए उनका पतन हुआ। किन्तु श्री भरत के बारे में भगवान् राघवेन्द्र कहते हैं कि अन्य लोगों के जीवन में राजमद आ सकता है, पर भरत के जीवन में नहीं। उनका तात्पर्य यह है कि श्री भरत के जीवन में धर्म नहीं, धर्मसार है।

'मानस' के प्रारम्भ में प्रतीकात्मक रूप से एक कथा आती है। ब्रह्मा ने विचार किया कि अब मैं किसी को प्रजापतियों का मुखिया पद दे दूँ। उन्हें लगा कि दक्ष इसके लिए सर्वथा योग्य पुरुष हैं, उन्हें ही प्रजापतियों का मुखिया बनाना चाहिए—

देखा बिधि बिचारि सब लायक।
दच्छहि कीन्ह प्रजापति नायक॥ १/५९/६

दक्ष चतुर हैं। ब्रह्मा ने विचार किया कि चतुर

व्यक्ति को प्रजापति का पद देने से वह कुशलता से समाज का संचालन कर सकता है। अतः उन्होंने दक्ष को प्रजापति-नायक बना दिया। पर त्रुटि क्या हुई ?——

बड़ अधिकार दच्छ जब पावा।
अति अभिमानु हृदयँ तब आवा ॥ १/५९/७

——जब दक्ष को इतना बड़ा अधिकार प्राप्त हुआ, तो उनका हृदय अभिमान से भर उठा। उन्होंने सोचा कि अगर मैं सबसे योग्य न होता, तो मुझे प्रजापति-नायक का पद क्यों दिया जाता। बस, प्रत्येक बुद्धिमान का रोग यही है। जब भी उसे कोई वस्तु प्राप्त होती है, तो वह उसे अपनी योग्यता का ही परिणाम मानता है। आप सोचिए कि यदि पद एक हो और अनेक व्यक्ति उस पद के योग्य हों, तो उस पद के लिए चुनाव अन्ततोगत्वा एक ही व्यक्ति का होगा। अब यदि चुना गया व्यक्ति यह मानने लगे कि जिन व्यक्तियों को स्थान नहीं मिला, वे सब अयोग्य थे, तो यह उसकी भूल होगी और उसके पतन की आशंका हमेशा बनी रहेगी। वास्तव में जब देनेवाले और लेनेवाले के मन में भिन्न प्रकार की वृत्ति हो, तो पतन की आशंका नहीं होती। अर्थात् यदि देनेवाला यह सोचकर दे कि देकर वह धन्य हुआ है तथा लेनेवाला इस भाव से ले कि महानता देनेवाले की है, वह तो पाकर कृतकृत्य हुआ है, तो इस प्रकार का विपरीत दृष्टिकोण कल्याणकारी होता है। पर यदि देनेवाला इस भाव से दे कि लेनेवाला उसकी

कृतज्ञता माने अथवा लेनेवाला यह सोचे कि उसकी श्रेष्ठता के कारण ही उसे वस्तु प्राप्त हो रही है, तो ये दोनों दृष्टिकोण पतनकारी होते हैं।

एक संकेत आता है--भगवान् शंकर और सतीजी कथा-श्रवण के लिए महर्षि अगस्त्य के आश्रम में जाते हैं। महर्षि उन दोनों का यथावत् पूजन करते हैं। गोस्वामीजी लिखते हैं--

पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी। १/४७/२

--ऋषि यह समझकर कि भगवान् शिव और उनकी प्रिया सतीजी जगत्पिता और जगन्माता हैं, उनका पूजन करते हैं। पर इस पूजन का प्रभाव भगवान् शंकर और सतीजी पर अलग अलग पड़ा। भगवान् शंकर ने सोचा कि अगस्त्य मुनि कितने विनम्र हैं! मैं तो कथा सुनने आया। चाहिए तो यह कि श्रोता वक्ता का पूजन करे, पर ये इतने उदार हैं कि मेरा पूजन कर रहे हैं। पर इधर दक्षतनया सतीजी के मन में विचार उठा कि अगर ये मुझसे छोटे न होते, न्यून न होते, तो मेरा पूजन क्यों करते? अब ये मुझे कथा क्या सुनाएँगे और इनकी कथा सुनकर भी क्या लाभ? एक ही चीज की प्रतिक्रिया दो व्यक्तियों में अलग अलग हुई। वस्तुतः जिसकी पूजा की जाय, उसके मन में पूजक के प्रति आदर का भाव रहे तथा पूजक के मन में पूज्य के प्रति आदरभावना रहे, तभी दोनों ठीक ठीक धर्म का अनुशीलन करते हैं और कल्याण को प्राप्त करते हैं। पर यदि पूजक के मन

में यह भाव रहे कि वह पूजन कर दूसरे को आदर प्रदान कर रहा है और पूजा पानेवाला यह सोचे कि श्रेष्ठ होने के फलस्वरूप उसकी पूजा हो रही है, तो दोनों पतन को प्राप्त होते हैं। दक्ष के जीवन की स्थिति यही होती है। दक्ष ने मान लिया कि सर्वश्रेष्ठ होने के कारण ही मुझे प्रजापति-नायक बनाया गया है। इसका परिणाम क्या हुआ ? एक बार वे ब्रह्मा की सभा में पहुँचे। प्रजा-पति-नायक को आया देख सारे देवता और ऋषि-मुनि उठकर खड़े हो गये। दक्ष ने ध्यान से देखा कि कोई बैठा तो नहीं रह गया। चतुरों को इसका बड़ा ध्यान रहता है कि किसने मेरा आदर किया और किसने नहीं। उन्हें अपनी मर्यादा का बड़ा भान रहता है। तो, ज्योंही दक्ष नें देखा, उन्हें एक बड़ा विचित्र दृश्य दिखायी पड़ा-- और तो सब खड़े हैं, केवल एक शंकरजी हैं, जो बैठे हुए हैं। शंकरजी ने कोई जान-बूझकर उनकी अवहेलना नहीं की। वे तो आत्मलीन थे, भगवान् के ध्यान में मग्न थे। उन्होंने तो यह देखा ही नहीं कि दक्ष कब आये और उनका कैसा सत्कार किया गया। जब दक्ष ने उनको देखा, तो सोचा--अच्छा, इन्होने मुझे देखकर ध्यान करने का स्वाँग भर लिया। उन्हें बहुत क्रोध आया--अन्य लोग तो खड़े हैं, पर यह मेरा जामाता, जिसे मैंने अपनी कन्या दान में दी, मुझे सम्मान नहीं दे रहा है।

दान का वास्तविक अर्थ तो यह है कि जो वस्तु दी

जाती है, उससे व्यक्ति अपनी ममता हटा ले। लेकिन जो लोग दक्ष की तरह दान देते हैं, वे अपनी ममता घटाते नहीं अपितु बढ़ाते हैं। अधिकांश दानी ऐसे ही देखे जाते हैं, जिनकी ममता दान देने के बाद थोड़ी और बढ़ जाती है। ऐसे व्यक्ति अपेक्षा करते हैं कि दान तो मैंने दिया, पर जिसने दान पाया, उसे जीवन भर मेरा कृतज्ञ बना रहना चाहिए। उसकी ममता वस्तु के प्रति घटी नहीं, वरन् और भी बढ गयी। दक्ष को ऐसा लगा कि शिव ने जान-बूझकर मेरी अवहेलना की है, और इस प्रकार दोनों के बीच संघर्ष प्रारम्भ होता है, जो बाद में व्यापक रूप धारण कर लेता है। दक्ष चतुर हैं और शंकरजी हैं साक्षात् विश्वास—'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ'।

बुद्धि का धर्म है चतुरता और हृदय का धर्म है विश्वास। दक्ष और शंकर के संघर्ष को तुलसीदासजी ने बुद्धि और हृदय के, विवेक और विश्वास के संघर्ष के रूप में निरूपित किया है और मानो यह बताया है कि चतुर व्यक्ति, बुद्धिवादी व्यक्ति बुद्धिगत सत्य को ही सत्य मानता है और परिणामस्वरूप अपने आपको ही सर्वश्रेष्ठ मान बैठता है। जब तक धर्म बुद्धिनिष्ठ रहेगा, उसकी टकराहट विश्वास से होगी। जो व्यक्ति बुद्धि से धर्म को मानकर चलेगा, उसमें स्थिरता नहीं होगी। वह आज जैसा है, कल वैसा नहीं रहेगा। अतः स्थिरता के लिए एक ही उपाय है कि धर्म का केन्द्र बुद्धि के स्थान

पर हृदय हो जाय, वह हमारे स्वभाव का अंग बन जाय। यही धर्मसार का स्वरूप है, जिसके कि प्रतीक श्री भरत हैं।

श्री भरत कहते हैं कि हम सब लोग चित्रकूट चलेंगे। क्यों? उनके इस कथन में गहन आध्यात्मिक तत्त्व निहित है। सांकेतिक रूप से चार स्थान हैं, जहाँ भगवान् की लीला होती है——अयोध्या, चित्रकूट, दण्डकारण्य और लंका। महाराज दशरथ का संकल्प था कि रामराज्य की स्थापना पहले अयोध्या में होगी। पर उनकी योजना पूरी नहीं हो पायी। रामराज्य की स्थापना पहले अयोध्या में नहीं हो पाती, उसकी स्थापना होती है पहले चित्रकूट में और उसका प्रथम नागरिक होता है केवट। इसका अभिप्राय क्या? आध्यात्मिक अर्थों में यह कह सकते हैं कि अयोध्या बुद्धिलोक है, चित्रकूट चित्तलोक, दण्ड-कारण्य मन:लोक और लंका अहं का जीता-जागता स्वरूप है। अन्त:करणचतुष्टय के रूप में जो चार स्थान हैं, उनके ये चार केन्द्र हैं——अयोध्या बुद्धिप्रधान, चित्रकूट चित्तप्रधान, दण्डकारण्य मन:प्रधान और लका अहंप्रधान। अत: महाराज दशरथ की यह योजना कि रामराज्य की स्थापना बुद्धि में हो, कभी सम्भव न थी, क्योंकि रामराज्य जब भी बनेगा, तो पहले चित्त में बनेगा। और लीला के केन्द्र——चित्त——में रामराज्य बनने के बाद क्रमश: मन, अहं और बुद्धिप्रधान स्थानों में रामराज्य की स्थापना होगी। बुद्धिप्रधान अयोध्या में पहले रामराज्य बनाने की

तैयारी बहुत की गयी, पर अन्त में मन्थरा निकल आयी और उसने कैकेयीजी को इतना परिवर्तित कर दिया कि रामराज्य नहीं बन पाया। मन्थरा के द्वारा बुद्धि का यह जो परिवर्तन है, उसके बारे में तुलसीदासजी लिखते हैं--

को न कुसंगति पाई नसाई।

--कुसंगति पाकर कौन नष्ट नहीं होता? क्यों? इसलिए कि--

रहइ न नीच मतें चतुराई ।। २/२३/८

--नीच व्यक्ति के अनुसार चलने से बुद्धि नहीं रह पाती। जीवन में कुसंग का परिणाम यह होता है कि जिस वस्तु को हमने बुद्धि से श्रेष्ठ जाना, उसे जीवन में उतार नहीं पाते। और इसीलिए रामराज्य नहीं बन पाता। जब श्री भरत ने चित्रकूट में प्रवेश किया, तो वहाँ रामराज्य का निर्माण हो चुका था। गोस्वामीजी लिखते हैं--

ईति भीति जनु प्रजा दुखारी।
त्रिविध ताप पीड़ित ग्रह मारी।।
जाइ सुराज सुदेस सुखारी।
होहिं भरत गति तेहि अनुहारी।।
राम बास बन संपति भ्राजा।
सुखी प्रजा जनु पाई सुराजा।।
सचिव बिरागु बिबेकु नरेसू।
बिपिन सुहावन पावन देसू।।

भट जम नियम सैल रजधानी।
साति सुमति सुचि सुंदर रानी॥
सकल अंग संपन्न सुराऊ।
राम चरन आश्रित चित चाऊ॥२/२३४/३-८
जीति मोह महिपालु दल सहित बिबेक भुआलु।
करत अकंटक राजु पुरँ सुख संपदा सुकालु॥ २/२३५

यही रामराज्य का मूल सूत्र है। जो राज्य ऐसा है, वही रामराज्य है और यह रामराज्य बना चित्रकूट में। रामराज्य नगर में पहले नहीं बन सकता, यह वन में बनेगा। रामराज्य बुद्धिनिष्ठ नहीं बनेगा, जब बनेगा तो चित्रकूट के चित्त में बनेगा। गोस्वामीजी की भाषा भी यही है—

रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु॥ १/३१

दूसरे प्रसंग में गोस्वामीजी दण्डकारण्य की तुलना जीव के मन से करते हैं—

दंडक बन प्रभु कीन्ह सुहावन।
जन मन अमित नाम किए पावन॥ १/२३/७

यदि हम जोवन में देखें, तो हमें मन, बुद्धि और अहंकार इन तीनों की उपस्थिति का भान तो होता है, पर चित्त की उपस्थिति का भान नहीं होता, जबकि वह सबका केन्द्र है। विचार करके देखिए—जब हम जागते रहते हैं, तब बुद्धिप्रधान होते हैं; जब स्वप्न देखते हैं, तब मनःप्रधान और जब सुषुप्ति में जाते हैं, तब

अहंप्रधान हो जाते हैं। पर यह चौथा जो चित्त है, वह दिखायी नहीं देता। जाग्रत् अवस्था में हम मन को दबाकर बुद्धि से व्यवहार करने की चेष्टा करते हैं। मन में बहुतसी व्यर्थ की ऊटपटाँग बातें आती हैं। पर हमारी बुद्धि बता देती है कि अगर हम यह बात कह दें, तो लोग क्या समझेंगे। किसी व्यक्ति से बात करके जी ऊब रहा है, और वह पूछ दे कि आपको कोई कष्ट तो नहीं हो रहा। मन में तो आता है कि सही बात कह दें, पर ऊपर से कह देते हैं—नहीं, नहीं, बड़ा आनन्द आ रहा है। यह क्या हुआ? यह तो मन को बुद्धि के द्वारा अनुशासित करके जीवन-व्यवहार चलाना हुआ। जाग्रत् अवस्था बुद्धिप्रधान है। जब हम सोते हैं, तब स्वप्न कब देखते हैं? जब बेचारा मन बुद्धि के दिन भर के शासन से थक जाता है, तब सपना आता है। सपना अर्थात् मन का राज्य। उस समय मानो मन बुद्धि से कहता है कि 'चलो, अब तुम्हारा संसार नहीं, अब तो मेरा बनाया हुआ संसार है और इस संसार में हम मनमानी व्यवहार करेंगे। तुमने बाहर तो हमें दिन भर रोका, अब हम स्वतंत्र हैं।'

एक प्रसंग स्मरण हो आता है—एक हमारे परिचित मित्र थे। प्रारम्भ में हम दोनों एक महात्मा के निकट रहा करते थे। वैसे वे बड़े सेवक थे, लेकिन एक बार दुःख प्रकट करते हुए उन्होने मुझसे कहा, "दिन भर तो मैं गुरुजी की सेवा करता हूँ, पर आज रात को मैंने

जो सपना देखा, उससे बड़ा दुःख हो रहा है।"

—"कैसा सपना?"

—"गुरुदेव ने मुझसे सपने में कहा, 'जाओ जल ले आओ।' मैंने कह दिया कि मैं नहीं लाऊँगा और यही बात मुझे पीड़ा दे रही है। इस प्रकार के सपने का क्या कारण है?"

मैंने कहा, "भई, बात इतनी सी है कि दिन भर तो तुम बुद्धि के द्वारा सेवा करते हो। तुम्हें लगता है, चाहे अच्छा लगे या न लगे तुम्हें गुरुजी की आज्ञा माननी ही चाहिए। लेकिन तुम्हारा मन विद्रोह करता रहता है। इसलिए जब सपने में मन के बनाये गुरुजी आज्ञा देते हैं, तो तुम नाही कर देते हो। उस समय तो मन का राज्य रहता है न।"

इसीलिए गोस्वामीजी ने श्रेष्ठ जनों की जो कसौटी बतायी, वह जाग्रत् अवस्था नहीं अपितु स्वप्नावस्था है। उनसे पूछा गया—"श्रेष्ठ पुरुष कौन?" उन्होंने उत्तर दिया—

मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी।
जेंहि सपनेहुँ परनारि न हेरी॥ १/२३०/६

—"वह जिसने सपने में भी पराई स्त्री पर दृष्टि न डाली हो।"

"और उत्तम कोटि की पतिव्रता के लक्षण क्या?"

उत्तम के अस बस मन माहीं।
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥ ३/४/१२

--"जिसके मन में सपने में भी सारे संसार में दूसरा पुरुष न हो।"

"और श्रेष्ठ सेवक कौन ?"

अस बिचारि सुचि सेवक बोले।
जे सपनेहुँ निज धरम न डोले।। २/१८५/६

--"जो सपने में भी अपने धर्म से न डिगे।"

'स्वप्न' शब्द का यह जो प्रयोग है, वह निरर्थक नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि स्वप्न व्यक्ति के मन की कसौटी है। सपने में व्यक्ति का मन नग्न होकर सामने आ जाता है। बाहर से हम चाहे जैसा अपने को प्रदर्शित करने की चेष्टा करें, पर सपने में हमारा मन हमें बता देता है कि वास्तव में अन्तरंग में हम ऐसे हैं। यह स्वप्न मन का राज्य है और जब हम गहरी नींद में रहते हैं, तो उस समय न तो मन रहता है और न बुद्धि। नींद से उठने पर हम कहते हैं--आज मैं बड़े सुख से सोया। इसका तात्पर्य यह कि इस सुख की अनुभूति करनेवाला कोई वहाँ पर था। और वह क्या था ?--एकमात्र अहंकार। अतः मनुष्य जाग्रत् में बुद्धिप्रधान, स्वप्न में मनःप्रधान और सुषुप्ति में अहंप्रधान रहता है। इन तीनों के अतिरिक्त चौथा एक चित्त भी है, जो दृष्टिगत नहीं होता, किन्तु जो इन सारे खेलों का केन्द्र है। इसलिए जब तक चित्त में भगवत्प्रेम की रसानुभूति नहीं नहीं होगी और हृदय परिवर्तित नहीं होगा, तब तक जीवन में सही धर्म नहीं उतर सकता। इसलिए भरतजी

पहले सबको चित्रकूट, जो कि चित्तप्रधान है, चलने का आग्रह करते हैं। वहाँ रामराज्य बन चुका है तथा वहाँ के नागरिक रामराज्य के पहले अधिकारी हैं। अयोध्या के नागरिक तो उसके अधिकारी बहुत बाद में होते हैं। भरतजी इस बात को समझते हैं। वे कर्तव्य-कर्म के ज्ञाता हैं। उनके चरित्र में कहीं कोई स्खलन नहीं है क्योंकि उनमें अहंकार का लेशमात्र नहीं है। पतन वहाँ होता है, जहाँ व्यक्ति में कर्तापन का भाव हो।

'मानस' में एक सांकेतिक कथा आयी है--जिस समय हनुमानजी समुद्र के ऊपर से उड़ते हुए लंका की ओर जा रहे थे, तो बीच में अचानक उन्हें लगा कि उनकी गति रुक गयी है। उन्होंने अपने चारों ओर देखा कि कोई उन्हें पकड़े हुए तो नहीं है। पर कोई दिखा नहीं। जब उन्होंने नीचे देखा, तो उन्हें एक विचित्र चमत्कार दिखायी पड़ा। नीचे समुद्र में एक राक्षसी थी--

निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई।
करि माया नभु के खग गहई॥
जीव जंतु जे गगन उड़ाहीं।
जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं॥
गहइ छाहँ सक सो न उड़ाई।
एहि बिधि सदा गगनचर खाई॥ ५/२/१-३

--वह जब किसी जीव को ऊपर उड़ते हुए देखती, तो उसकी छाया को पकड़ लेती। इससे वह उड़ नहीं पाता और नीचे गिर जाता। तब वह राक्षसी उसे खा जाती।

यह बड़ी उल्टी सी बात लगती है। यह तो समझ में आता है कि यदि हम व्यक्ति को पकड़ लें, तो उसकी छाया रुक जाती है। लेकिन छाया को पकड़ लेने से व्यक्ति रुक जाय, यह बात बड़ी अटपटी लगती है। पर यदि थोड़ा विचार कर देखें, तो पता लगेगा कि यह जीवन का नित्य का सत्य है। यह राक्षसी कौन है ? पुराणों में वर्णित है तथा गोस्वामीजी ने भी अपनी 'रामाज्ञा प्रश्नावली' में बताया है कि यह राहु की माता है--

राहु मातु माया मलिन मारी मारुत पूत।

और यदि आप इसे पहिचानना चाहें, तो यह आज भी विद्यमान है। त्रेतायुग में हनुमानजी ने उसे भौतिकरूप से मारकर उस पर विजय प्राप्त की थी, पर मानसिक रूप से वह आज भी हम सबके जीवन में व्याप्त है। वस्तुतः राहु है मात्सर्य की वृत्ति और उसकी माता सिंहिका है ईर्ष्या। राहु की कथा आज सब जानते हैं। वह अमर होना चाहता है। देवता और दैत्य चाहे अमर हों या न हों, पर मैं तो अमर हो जाऊँ--यही राहु की वृत्ति है। और ऐसे राहु को जन्म देनेवाली जो वृत्ति है, वह है ईर्ष्या। उसका लक्षण क्या ? वह राक्षसी है। राक्षसी होने के नाते उसे भूमि पर रहना चाहिए, पर वह रहती है जल में। और जल में खाने योग्य पदार्थ भी कम नहीं। सारा समुद्र मछली, कछुए आदि विभिन्न प्रकार के जीव-जन्तुओं से भरा पड़ा है। पर वह भूख लगने पर समुद्र के जन्तुओं को नहीं खाती। जिसे

आकाश में उड़ते देखती है, उसे गिराकर खाती है। यही ईर्ष्या की वृत्ति है। ईर्ष्या बराबरीवालों से नहीं होती। जो जरा उठते हुए दिखायी देते हैं, उन्हीं के प्रति ईर्ष्या होती है। अपने से ऊपर उठे हुए व्यक्ति को गिराने में ही इसे आनन्द आता है। है यह थलचरी, पर रहती है जल में और खाती है नभचरों को। ईर्ष्या की वृत्ति को पहिचानना बड़ा कठिन है। इसका निरन्तर कार्य ही है छाया पकड़कर व्यक्ति को गिरा देना। कितने पते की बात है! व्यक्ति चाहे जितना ऊपर उठ जाय, उसकी कुछ न कुछ छाया तो होगी ही। और छाया होगी, तो नीचे ही होगी। ईर्ष्यालु व्यक्ति क्या ढूँढ़ता है? वह जहाँ भी जायगा, यही देखेगा कि व्यक्ति में कोई दुर्बलता, कोई कमी, कोई छाया है या नहीं। एक सज्जन जितनी बार भाषण सुनने जाते, हर बार लौटकर यही बताते कि वक्ता ने कितनी बार अशुद्ध शब्दों और वाक्यों का प्रयोग किया। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा, "आज अमुक वक्ता ने बत्तीस बार अशुद्ध शब्दों का प्रयोग किया।" मैंने कहा, "आप यही गिनते रहे क्या? शुद्ध शब्दों का कितना प्रयोग किया वह ध्यान में नहीं रहा!" यही ईर्ष्या की वृत्ति है। व्यक्ति चाहे कितना भी ऊपर क्यों न उठ जाय, अहं की छाया व्यक्ति में रह ही जाती है, और ईर्ष्या की वृत्ति उसी को ढूँढ़ती है। जब व्यक्ति की छाया, उसकी दुर्बलता पकड़ में आ जाती है, तो उसे गिराने में सुविधा हो जाती है। यह राक्षसी इसी प्रकार

बहुतों को गिराया करती है। यह बात और है कि हनुमानजी के बारे में उसे धोखा हो गया। हनुमानजी में जब उसने छाया देखी, तो उसे लगा कि इसमें भी कमी है। उसने वैसा ही छल हनुमानजी के साथ किया—

सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा।
तासु कपटु कपि तुरतहिं चीन्हा ॥ ५/२/४

हनुमानजी तुरन्त उसके कपट को जान गये और उसे खत्म कर दिया। हनुमानजी पर उसका चमत्कार नहीं चल पाया। क्यों? हनुमानजी की छाया सामान्य छाया नहीं थी। यदि यह सिंहिका ने ठीक जान लिया होता, तो वह मारी न जाती। हनुमानजी में अहंकार की छाया का दिखायी पड़ना आश्चर्यजनक नहीं। अन्तर यही है कि जहाँ संसार में अधिकांश लोगों में यह अहंकार होता है कि मैं विद्वान् हूँ, मैं धनवान हूँ, मैं योग्य हूँ, वहाँ हनुमानजी का अहंकार भक्त का अहं है। भक्त इस अहं को छोड़ना नहीं चाहता, अपितु चाहता है कि सर्वदा यह अहं बना रहे। सुतीक्ष्णजी ने भगवान् से यही प्रार्थना की कि प्रभु, मेरे जीवन से अभिमान कभी न जाय! भगवान् को आश्चर्य हुआ। वे बोले——लोग तो अभिमान छोड़ना चाहते हैं, पर तुम यह क्या कह रहे हो? सुतीक्ष्णजी ने कहा——हाँ प्रभु, मैं यही चाहता हूँ कि——

अस अभिमान जाइ जनि भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे ॥ ३/१०/२१

——'मैं प्रभु का सेवक हूँ और प्रभु मेरे स्वामी हैं' यह

अहंकार भूलकर भी जीवन से न जाय। हनुमानजी के जीवन में भी जो अहं है, वह दास का अहं है---'दासोऽहं कौशलेन्द्रस्य'। ऐसा अहं जीवन के लिए परम कल्याण-कारी है। इसका एकमात्र कारण यह है कि संसार का जितना अहं है, वह दूसरे को अपने से तुच्छ दिखलाता है। पर जिसने भगवान् के दासत्व का अहंकार स्वीकार कर लिया, उसकी दृष्टि में संसार में सभी बड़े हो जाते हैं---

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥ ४/३

---वह सारे संसार को प्रभु का रूप देखता है और इस-लिए अपने को सबका सेवक मानता है। उसका अहंकार सबकी सेवा की प्रेरणा देता है, सबको अपने से बड़ा मानने के लिए प्रेरित करता है। अतः ईर्ष्या उसके सामने ठहर नहीं सकती। यही कारण है कि सिंहिका हनुमानजी के ऐसे अहंकार के सामने असफल होती है और मारी जाती है।

ऐसे अहकार में पतन का कोई भय नहीं है। श्री भरतजी के जीवन में पतन का कोई भय नहीं। 'मानस' में श्री भरत के लिए कहा गया है---'भरतहि जानु राम परिछाहीं'---भरतजी तो भगवान् राम की छाया ही हैं। अतः यदि सिंहिका इस छाया को पकड़े, तो पतन किसका होगा? पतन छाया का नहीं होगा, जिसकी छाया होगी, उसका होगा। यदि कोई श्री भरत को गिरांने की चेष्टा करेगा, तो प्रभु राम ही गिरेंगे, न कि श्री भरत। उन्होंने अपने आपको शून्य बना लिया है। जिसका जीवन ईश्वर

के प्रति समग्र रूप से समर्पित है, वहाँ अगर पतन है, तो वह ईश्वर का पतन है। भक्त का पतन कैसे हो सकता है ? हम और आप यदि चलते समय गिर पड़ें, तो लोग कहेंगे--कैसे चलते हो, देखकर नहीं चलते ? पर यदि चलते समय माँ की गोद से नन्हा बालक गिर पड़े, तो कोई बालक को दोष नहीं देगा, सभी उसकी माँ से कहेंगे कि कैसी लापरवाह है, बच्चे को सम्भाल नहीं सकती। बच्चा अगर गन्दा हो, तो इसके लिए कोई बच्चे को दोष नहीं देगा, बल्कि सब उसकी माँ को दोष देंगे; कहेंगे, इसकी माँ कैसी फूहड़ है, जो बच्चे का ध्यान नहीं रखती। जिसने अपने आपको पूरी तरह ईश्वर के प्रति समर्पित कर दिया, उसके जीवन में अपना मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार नहीं रह जाता। वह यंत्र के समान ईश्वर के संकेत पर कार्य करता है। और ऐसा ही व्यक्ति जीवन में बिना स्खलित हुए सच्चे अर्थों में धर्म का निर्वाह करता है।

•

श्रीरामकृष्ण के माता-पिता

नित्यरंजन चटर्जी

(अनुवादिका– कु० अंजिल राय चौधुरी)

"माँ ! आज तुम्हें कुछ लेना ही होगा। तुम्हें कुछ देने की इच्छा है, मेरी प्रार्थना स्वीकार करो। सारी सम्पत्ति देकर भी तुम्हारी चाह मिटाने के लिए मैं तैयार होकर आया हूँ।" मथुरामोहन विश्वास--रानी रासमणि के दामाद--ने कहा।

"मुझसे ऐसा क्यों कह रहो हो, बेटा ? ईश्वर नें मेरे लिए कोई कमी नहीं रखी। मेरी कोई इच्छा नहीं, मैं बहुत प्रसन्न हूँ।" अस्सी साल की वृद्धा ने उत्तर दिया।

"नहीं, माँ ! आज किसी तरह नहीं मानूँगा। तुम्हारा थोड़ा सा अभाव भी अगर मैं दूर कर पाया, तो अपनें को कृतार्थ मानूँगा। आज तुम्हें कहना ही होगा कि तुम्हें क्या चाहिए।"

वृद्धा ने उनकी ओर देखा। फिर जैसे गहरे सोच में डूब गयीं, कुछ तय नहीं कर पायीं कि उन्हें किसी चीज की कमी है। रहने को घर है, कभी भोजन का अभाव नहीं रहा, पुण्यसलिला भागीरथी के तीर पर निवास की सुविधा है--ये सारी चीजें जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य बिना तो मिलतीं नहीं। किसी बात की कमी नहीं है उनको। वृद्धा नें मथुरबाबू से कहा, "नहीं, बेटा, कोई कमी ढूँढ़े नहीं मिली।"

"नहीं, माँ, आज मैं निश्चय करके आया हूँ कि तुम्हें कुछ दूँगा हो। तुम्हें कुछ माँगना ही होगा मुझसे,"

मथुरबाबू के कण्ठ से विनयसिक्त स्वर फूट पड़ा। वृद्धा का मुखमण्डल उज्ज्वल हो उठा। शुष्क आँखें फैलाकर मथुरबाबू की ओर देखते हुए बोलीं, "जब किसी तरह नहीं मानोगे, तब एक पैसे का गुल ला देना, बेटा!"

मथुरबाबू अवाक् हो गये! इतने बड़े लोभ की कोई स्वेच्छापूर्वक उपेक्षा कर सकता है! कैसी अनासक्ति, कितना बड़ा संयम, त्याग का कैसा आदर्श! चुपचाप वृद्धा को प्रणाम कर उन्होंने विदा ली।

ऐसी माँ न होने पर क्या ऐसा पुत्र उत्पन्न होता है? ये हैं चन्द्रमणि देवी, परमपुरुष श्रीरामकृष्ण देव की जननी।

बंगाल का देरे ग्राम। माणिकराम चट्टोपाध्याय का निवासस्थान। वे जैसे निष्ठावान थे, वैसे ही सदाचारी। घर में गृहदेवता थे रघुवीर। वे उन्हीं के एकनिष्ठ उपासक थे। इस तेजस्वी ब्राह्मण को देरे ग्राम के सभी लोग श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। इन्हीं के ज्येष्ठ पुत्र थे क्षुदिराम। १७७५ ई० में इनका जन्म हुआ था। पिता के सभी सद्गुण इन्हें विरासत में मिले थे। अर्थोपार्जन की दृष्टि से किसी विद्या में वे पारंगत तो न थे, परन्तु वे सत्य के पुजारी थे। इस दीर्घकाय सबल व्यक्ति ने सभी की श्रद्धा अपनी ओर आकर्षित की थी। प्रतिदिन रघुवीर की पूजा समाप्त किये बिना वे पानी तक नहीं पीते थे। छोटी आयु में स्त्री-वियोग हो जाने पर चौबीस वर्ष की उम्र में उन्होंने सराटी-मायापुर ग्राम की चन्द्रमणि

से पुनः विवाह किया था। यह १७९९ ई० की बात है। चन्द्रमणि उस समय आठ वर्ष की थीं। वे रूपवती, सीधी-सादी और देवद्विजपरायणा थीं। उनकी सरलता और निश्छल स्नेह ने परिवार के सब लोगों को मुग्ध कर लिया था। घर पर सब उन्हें 'चन्द्रा' कहकर बुलाते थे।

माणिकराम की मृत्य के पश्चात् घर और जमीन-जायदाद का पूरा भार क्षुदिराम पर आ पड़ा। क्षुदिराम निष्ठा के साथ अपना कार्य करते रहे। चन्द्रमणि के गुणों पर सभी मुग्ध थे। क्षुदिराम के विवाह के बाद सोलह वर्ष आनन्दपूर्वक बीत गये। इस बीच पुत्र रामकुमार और कन्या कात्यायनी का जन्म हुआ। इसके बाद ही दुःख के दिन आये। देरे ग्राम का जमींदार था रामानन्द राय। कहते हैं कि प्रजा को सताने में उसका कोई सानी नहीं था। उसने अदालत में एक झूठा मुकदमा दायर किया था, उसमें क्षुदिराम से उसने गवाही देने का अनुरोध किया। क्षुदिराम उसका प्रस्ताव सुन स्तब्ध रह गये। रामानन्द राय ने उनसे कहा, "आप धार्मिक हैं, सत्यवादी हैं, आपकी जबान की कीमत है, आपको इस मुकदमे में गवाही देनी होगी।" रघुवीर के एकनिष्ठ पुजारी क्षुदिराम भला झूठे मुकदमे में गवाही देंगे! ऐसा भी कभी सम्भव हो सकता है! कुलदेवता रघुवीर का उन्होंने स्मरण किया। मन में दैवी शक्ति का अनुभव किया। जमींदार के मुँह पर साफ कह दिया, इस झूठे मुकदमे में वे गवाही नहीं दे सकते। एक साधारण

ब्राह्मण का यह हौसला ! रामानन्द राय के अभिमान पर ठेस पहुँची। वह प्रतिशोध की ताक में रहने लगा। कुछ दिन बाद क्षुदिराम के विरुद्ध एक झूठा मुकदमा दायर करके उसने उनकी सारी सम्पत्ति की नीलामी करा ली। सब कुछ चला गया। चल-अचल कोई सम्पत्ति न रही। क्षुदिराम एकदम निःस्व हो गये। गृहदेवता रघुवीर के सामने खड़े हो उन्होंने हाथ जोड़कर निवेदन किया, "जान में मैंने अन्याय को बढ़ावा नहीं दिया है, सदा सत्य का ही आश्रय लिया है, अब तुम्हारी इच्छा ही पूर्ण हो !" स्त्री, पुत्र और कन्या के साथ वे रास्ते में उतर पड़े। पर उन्होंने हिम्मत न हारी। साथ में रघुवीर हैं, डर किस बात का ? वे अशरणशरण हैं-- जिसके कोई नहीं, उसके लिए ही तो वे हैं। पूरी तरह रिक्त होकर, सारे बन्धनों को तोड़कर ही उनके पास जाना पड़ता है।

कामारपुकुर के सुखलाल गोस्वामी क्षुदिराम के गुणों पर मुग्ध थे। उनके पास खबर पहुँची। मित्र की विपत्ति सुन वे दौड़े आये, कामारपुकुर चलने को उन्होंने सादर आमंत्रित किया। बोले, "कामारपुकुर चलो, एक मिट्टी की झोपड़ी और एक बीघा जमीन तुम्हें दे देता हूँ।" क्षुदिराम राजी हो गये। घर छोड़कर वे घर में ही आ पहुँचे। यह घटना है १८१४ ई० की। क्षुदिराम उस समय उनतालीस वर्ष के थे।

कामारपुकुर में आकर फिर से क्षुदिराम की शान्ति-

पूर्ण गृहस्थी बस गयी। ईश्वर के चरणों में उन्होंने अपने आपको पूर्णरूप से समर्पित कर दिया। उनकी निष्ठा, सत्यवादिता और संयम ने सबको मुग्ध कर दिया। धर्मपरायणा चन्द्रमणि की सादगी ने सबकी श्रद्धा आकर्षित की। दिन बीतते गये। एक दिन उदास चेहरे से चन्द्रमणि ने पति से कहा, "घर में अन्न नहीं है, क्या किया जाय ?" क्षुदिराम हँस पड़े, "जिनके सहारे हैं, वही रघुवीर अगर उपवास करते हैं, तो हम भी करेंगे।" कैसा आत्मविश्वास ! ऐसा न होने पर क्या ईश्वर की कृपा मिलती है ?

एक दिन क्षुदिराम दूसरे गाँव गये हुए थे। वापस आते समय थककर एक पेड़ के नीचे विश्राम कर रहे थे। थकान के कारण आँखों में तन्द्रा आ गयी। उन्होंने स्वप्न देखा—प्रभु रामचन्द्र बालक के वेश में उनके सामने आ खड़े हुए और एक स्थान की ओर संकेत करते हुए बोले, "क्षुदिराम ! मैं यहाँ कितने दिन भूखा पड़ा रहूँगा ? तुम्हारी सेवा पाने की मेरी इच्छा है।" क्षुदिराम ने कहा, "प्रभो ! मैं दरिद्र हूँ, अपना आहार जुटा नहीं पाता, तुम्हारी सेवा कैसे करूँगा ?" बालकवेशी रामचन्द्र ने उन्हें अभय दिया, "डरो मत, तुम्हारी कोई गलती मन में नहीं लाऊँगा, तुम मुझे अपने घर ले चलो।" क्षुदिराम की नींद टूट गयी। यह क्या, यही तो वह स्थान है, जिस ओर सपने में श्रीरघुवीर ने संकेत किया था। क्षुदिराम आलस्य छोड़ खड़े हुए और सामने के

धान के खेत में घुस गये। प्रभु अवश्य यहीं कहीं छुपे बैठे हैं। वे व्याकुलता से खोजने लगे तो देखा, सामने एक पत्थर पर एक विषैला साँप फन फैलाये पड़ा है। गौर से देखने पर मालूम पड़ा कि वह तो एक सुन्दर शालग्राम शिला है। उस शिला को उठा लेने की उन्हें प्रवल इच्छा हुई, किन्तु वे कुछ दुविधा में पड़ गये। कहीं भुजंग डस ले तो? मन में कोई जैसे बोल उठा "जिसने विष दिया है, वही हरण भी तो करता है।" 'जय रघुवीर' कहकर वे उस शालग्राम शिला की ओर लपके तो विषैला साँप पल में कहीं विलीन हो गया। उन्होंने शिला को उठाकर अपने वक्ष से लगा लिया। बाद में शिला की परीक्षा करने पर जब उन्हें विदित हुआ कि यह तो वास्तव में 'रघुवीर' नामक शिला है, तो वे समझ गये कि बिन माँगे स्वयं नारायण ने कृपा की है।

रघुवीर के प्रसाद से क्षुदिराम का अन्न-कष्ट दूर हो गया। सुखलाल की दी हुई जमीन में काफी फसल उत्पन्न हुई। क्षुदिराम को अब पूजा-उपासना का अधिक अवसर मिला। वे ईश्वर-चिन्तन में तन्मय हो जाते और आँखों से भावाश्रु बहने लगते। गाँव के सभी लोग क्षुदिराम के प्रति श्रद्धा करते। वे इस दरिद्र ब्राह्मण के आशीर्वाद को संसार-पथ का पाथेय मानते। चन्द्रमणि को भी सब लोग श्रद्धा की दृष्टि से देखते। उनके व्यापक मातृत्व ने सबको स्नेह-डोर में बाँध लिया था। वे आर्त, पीड़ित,

साधु-सज्जन सभी की माँ थीं। उनका निश्छल स्नेह सभी को अभिभूत कर लेता। दुःख के दिनों में सान्त्वना पाने के लिए सभी उस सीधी-सादी महिला के पास दौड़े आते। संसार की नीचता और मलिनता उन्हें छू भी न पायी थी। वे गृहस्थ थीं अवश्य, परन्तु विषय-विकार उनमें नहीं था। गरीबी में उन्होंने सम्पदा का स्वाद अनुभव किया। उनका हृदय ऐसे स्नेह से युक्त था, जो व्यापकता में सीमाहीन था और गहराई में अथाह।

रामचाँद वन्द्योपाध्याय क्षुदिराम के भानजा थे; वे मेदिनीपुर में मुख्तारगिरी करते थे। क्षुदिराम की विपत्ति के समय वे हर महीने उन्हें पन्द्रह रुपये की मदद भेजते थे। क्षुदिराम भी अपने इस भानजे को वहुत चाहते थे। कुछ दिन उनका समाचार न मिलने पर हालचाल जानने के लिए वे स्वयं दौड़े हुए पहुँच जाते थे। ऐसे ही एक बार कोई खबर न पाने के कारण वे पैदल मेदिनीपुर की ओर रवाना हुए। माघ का महीना था। हरे बेल-पत्र के अभाव में शिवपूजा में अड़चन होती थी। सबेरे से वे लगातार चल रहे थे; अचानक बेल के एक वृक्ष पर उनकी नजर पड़ी। कोमल पत्तों से वृक्ष की शाखा-प्रशाखाएँ भर गयी थीं। क्षुदिराम का मन प्रसन्नता से झूम उठा; वे मेदिनीपुर जाना भूल गये, रामचाँद को भूल गये। पास के गाँव में जाकर एक नयी टोकरी और एक नया अँगोछा खरीद लाये। बेलपत्तों से टोकरी भर, भीगे अँगोछे से उसे ढाँक वे कामारपुकुर वापस

चल पड़े। चन्द्रमणि तो अवाक् हो गयीं। क्षुदिराम ने कहा, "मेदिनीपुर जाना न हो सका, आज तो जी भरकर शिवजी की पूजा करूँगा।"

इस प्रकार कामारपुकुर में नौ साल बीत गये। रामकुमार और कात्यायनी का विवाह हो गया। दुर्दिन के साथी सुखलाल चल बसे। रामकुमार पिता के कार्यों में हाथ बटाने लगे। क्षुदिराम का मन अब तोर्थदर्शन के लिए व्याकुल रहने लगा। एक दिन गृहस्थी का भार रामकुमार को सौंप वे सेतुवन्ध रामेश्वर के दर्शनों के लिए चल पड़े। लगभग एक वर्ष बाद वे बाणलिंग साथ ले कामारपुकुर लौटे। इस बार चन्द्रमणि की तीसरी सन्तान का जन्म हुआ। पिता ने उसका नाम रखा रामेश्वर। रामकुमार की सहायता से घर की समृद्धि लौट आयी। क्षुदिराम ने स्वयं को पूरी तरह धर्म-साधना की ओर उन्मुख कर लिया और चन्द्रमणि भी बिना किसी प्रतिवाद के गृहस्थी का सारा काम-काज गृहदेवता रघुवीर के सहारे करती रहीं। उनकी गृहस्थी प्रशान्त और धीर स्वच्छ धारा की तरह बहती रही।

एक दिन रामकुमार एक दूसरे गाँव में पूजा करने के लिए गये। आधी रात बीत चली, तब भी वे वापस नहीं आये। चन्द्रमणि व्याकुल हो घर से बाहर निकल पड़ीं और बेटे की राह ताकते खड़ी रहीं। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। कच्ची सड़क काफी दूर तक चाँदनी के प्रकाश में दिखायी पड़ रही थी। अचानक

चन्द्रमणि चौंक पड़ीं। इस घोर रात्रि में इतना रूप लिये और इतने गहने पहने रास्ते पर कौन अकेली चली आ रही है! "कौन हो जी तुम? कहाँ से आ रही हो? गहने वहने पहन इतनी रात गये अकेली अकेली कहाँ जा रही हो?" एक ही साथ चन्द्रमणि ने इतने सारे प्रश्न पूछ डाले।

लड़की ने उत्तर दिया, "तुम्हारा बेटा जहाँ पूजा करने गया था, मैं वहीं से आ रही हूँ। तुम्हारा बेटा अभी आ जायगा।" चन्द्रमणि प्रसन्न हो गयीं। फिर पूछ बैठीं, "तुम्हारे कान में वह कौनसा गहना है, बेटी?"

"इसका नाम कुण्डल है। मुझे अभी दूर जाना है, फिर कभी तुम्हारे यहाँ आऊँगी।" और यह कह लड़की चली गयी। चन्द्रमणि ने आँखें उठाकर देखा, वह रास्ता छोड़कर लाहाबाबुओं के धान रखने के स्थान की ओर निकल गयी। चन्द्रमणि चिल्लाकर बोलीं, "उस तरफ नहीं, बेटी!" परन्तु यह क्या? वे किससे बात कर रही थीं? वह सुन्दरी तो जाने कब हवा में विलीन हो गयी! सन्नाटे में चन्द्रमणि की आवाज खो गयी। "यह मैंने किसे देखा?" व्यग्र कण्ठ से चन्द्रमणि नें क्षुदिराम से पूछा। शान्त कण्ठ से क्षुदिराम ने उत्तर दिया, "आज कोजागरी लक्ष्मीपूजा है, सम्भवतः माँ ही तुम्हें दर्शन दे गयी हैं!" चन्द्रमणि का अंग अंग सिहर उठा।

बेटी कात्यायनी बीमार थी। समाचार पाकर चन्द्रमणि बेचैन हो उठीं। क्षुदिराम को उसके गाँव आनुर

भेजा। क्षुदिराम ने देखा कि कात्यायनी पर प्रेतावेश हुआ है। उन्होंने प्रश्न किया, "हे प्रेत, तुम देवता हो या उपदेवता नहीं मालूम, पर मेरी बेटी को क्यों कष्ट पहुँचा रहे हो ? कहो तुम्हारी तुष्टि के लिए मैं क्या कर सकता हूँ ?" कात्यायनी के कण्ठ से आवाज आयी, "तुम सत्य-वादी हो। अगर यह शपथ करो कि मेरी मुक्ति के लिए गया में पिण्डदान करोगे, तो मैं तुम्हारी कन्या को छोड़ दूँगा।" क्षुदिराम वचनबद्ध हुए। कात्यायनी रोग से मुक्त हो गयी। वचन के पालन हेतु क्षुदिराम गया के रास्ते चल पड़े, विष्णु के चरणकमलों में पिण्डदान की अभिलाषा लेकर। गया पहुँचकर विष्णु के श्रीचरणों में उन्होंने पूरे अनुष्ठान के साथ पिण्डदान किया। तृप्ति और शान्ति से उनका मन भर उठा। रात को उन्होंने स्वप्न देखा--पितरों के निमित्त वे विष्णु के श्रीचरणों में पिण्डदान कर रहे हैं, उनका मुख आनन्द से उज्ज्वल हो उठा है तथा पितरगण बार बार उन्हें आशीर्वाद दे रहे हैं। अचानक विष्णुमन्दिर अपूर्व ज्योति से भर उठा। उन्होंने देखा कि एक दिव्य मूर्ति सिंहासन पर विराज रही है, उसकी देह नवीन दूर्वादल के समान श्यामल है। चारों ओर स्वर्ग के देवता हाथ जोड़े खड़े हैं। वह दिव्य मूर्ति स्मित-हास्य के साथ क्षुदिराम से कह रही है, "तुम्हारी भक्ति से मैं सन्तुष्ट हूँ। अब मैं तुम्हारे पुत्र के रूप में तुम्हारे घर जन्म लूँगा और तुम्हारे हाथ से सेवा ग्रहण करूँगा।" क्षुदिराम के सारे शरीर में सन-

सनी फैल गयी, उनकी आँखें भर आयीं। हाथ जोड़कर उन्होंने निवेदन किया, "प्रभो! मैं बड़ा निर्धन हूँ, मेरी सामर्थ्य ही क्या है कि तुम्हारी सेवा कर सकूँ?" ज्योतिर्मय मूर्ति ने अभय देते हुए कहा, "तुम जो भी दोगे, मैं उसी में प्रसन्न रहूँगा। मैं आडम्बर नहीं, भक्ति चाहता हूँ।" क्षुदिराम की नींद टूट गयी। स्वप्न के दर्शन ने उन्हें अभिभूत कर लिया।

ईश्वर जब नर-देह धारण करते हैं, तब जिस नारी के गर्भ में आते हैं, उसे विचित्र अनुभूतियाँ होती हैं। ये अनुभूतियाँ साधारण जनों को बोधगम्य नहीं होतीं। श्रीरामचन्द्र की जननी कौशल्या, बुद्ध की जननी माया-देवी, ईसा की जननी मेरी, शंकर-जननी विशिष्टा, चैतन्य-जननी शचीदेवी सभी ने महामानव के आविर्भाव के पूर्वाभास के रूप में विचित्र अनुभूतियाँ प्राप्त की थीं। चन्द्रमणि भी इसकी अपवाद न रहीं। कुछ दिनों से उनके स्वभाव में अद्भुत परिवर्तन आ गया था। एक सर्वव्यापी प्रेमभाव उन्हें बेसुध-सा किये दे रहा था। संसार की झंझटों से उनका मन ऊपर उठ गया था। अब सब समय उन्हें पड़ोसियों की भलाई की चिन्ता लगी रहती। किसी का थोड़ासा भी अभाव या क्लेश वे अब देख नहीं पातीं। संसार के सभी प्राणियों को वे वात्सल्य भाव से देखने लगीं। यहाँ तक कि गृहदेवता रघुवीर की सेवा भी वे अपत्य-भाव से करने लगीं। यही नहीं, उन्हें विचित्र प्रकार के दिव्य दर्शन भी होने

लगे। कभी वे आनन्द से उत्फुल्ल हो उठतीं और कभी उदासी आकर उन्हें घेर लेती; आँखों के सामने वे हमेशा देवी-देवताओं की मूर्ति देखने लगीं। कोई रथ पर चढ़कर आ रहा है, तो कोई हंस पर, और कोई ज्योतिपुंज के बीच दिखायी दे रहा है। दरवाजा बन्द करके चन्द्रमणि बाहर लेटी हुई हैं, कानों में सहसा नूपुर की ध्वनि सुनायी पड़ी। कान खड़े कर वे सुनने लगीं। वे दरवाजा ठेलकर भीतर गयीं, तो सब सूना था, कहीं कोई भी नहीं था। और एक दिन, चन्दन की सुगन्ध से दिशाएँ सुरभित हो उठीं, उसी बीच एक ज्योतिर्मय शिशु आकर उनसे लिपट गया। "अरे, गोद में आ" ऐसा कह चन्द्रमणि ज्योंही उसे अंक में उठाने लगीं कि वह हाथ से निकलकर भाग गया। फिर एक रात उन्हें लगा कि उनके बिस्तरे पर कोई लेटा है। गहरी रात, स्वामी घर पर नहीं, यह कैसी घटना! बत्ती जलाकर सारा घर छान डाला, परन्तु कोई दिखायी न पड़ा। दूसरे दिन जब उन्होंने धनी लुहारिन को बुलाकर सारी बातें बतायीं, तो धनी हँसते हँसते लोट-पोट हो गयी। बोली, "मर जा! बुढ़ापे में तेरे रंग-रूप देख तो मैं मर गयी!" कोई सुनेगा तो बदनामी होगी। सपना देखा है री, सपना!" "शायद ऐसा ही हो"--चन्द्रमणि नें सोचा और दीर्घ श्वास लेकर कहा, "पर आँखें खोलकर भी क्या सपना देखा जा सकता है?" मन में एक सन्देह रह ही गया। फिर एक दिन चन्द्रमणि युगियों के शिवमन्दिर के सामने खड़ी थीं।

साथ में धनी लुहारिन भी थी। अचानक चन्द्रमणि ने देखा, महादेव के श्रीअंगों से एक दिव्य ज्योति निकली और प्रवल वेग से उनके शरीर में प्रवेश करने लगी। वे चीख उठीं। शरीर बेसुध होकर गिरने लगा कि धनी ने थाम लिया, बोली, "तुझे वायुरोग हुआ है।"

गया से लौटने पर क्षुदिराम ने सब कुछ सुना। उन्होंने गयाधाम में जो स्वप्न देखा था, आज वह उनके सामने स्पष्ट हो उठा--दिन के उजाले के समान स्पष्ट। दोनों हाथ माथे से लगाकर वे बोले, "अजी, 'वे' हमारे घर में आ रहे हैं, यह सब उसी का पूर्व लक्षण है।" दिन दिन चन्द्रमणि का सौन्दर्य जैसे बढ़ने लगा। यह देख पड़ोस और मुहल्लेवालों में कानाफूसी होने लगी-- "इस बुढ़ापे में इतना रूप! लगता है कोई उपदेवता उसके गर्भ में प्रवेश कर गया है। इस बार बुढ़िया का वचना मुश्किल लगता है।" आखिर वे लोग सांसारिक प्राणी जो थे। लीक से थोड़ा भिन्न देखने पर उनका इस प्रकार आशंकित होना स्वाभाविक था। कभी कभी चन्द्रमणि भी सोचतीं, कहीं गोसाईं की दृष्टि तो मुझ पर नहीं पड़ गयी! सुखलाल गोस्वामी की मृत्यु के बाद गाँव में तरह तरह के दैवी उत्पात होने लगे थे। लोगों की धारणा थी कि वे अपने घर के सामने के बकुल पेड़ पर भूत बनकर रह रहे हैं। किसी के स्वभाव में थोड़ा सा भी परिवर्तन देखने पर लोग कहने लगते, "गोसाईं की दृष्टि पड़ी है!" इसीलिए कभी कभी चन्द्रमणि भी

सोचतीं कि कहीं गोसाईं की दृष्टि मुझ पर भी तो नहीं पड़ गयी। क्षुदिराम आश्वासन देते--"लोगों की बातों पर ध्यान मत दो। त्रिभुवन को आलोकित करनेवाले रूप को लेकर प्रभु हमारे घर पधारनेवाले हैं। उन्हीं की कृपा से तुम्हें दिव्य दर्शन हो रहे हैं। जन्म-जन्मान्तर के पुण्य के विना ऐसा सौभाग्य क्या किसी को मिलता है? रघुवीर पर निर्भर करो। निर्भीक बनो।"

चन्द्रमणि निर्भय हो गयीं।

(क्रमशः)

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) अपराधो हि दण्डनीयम्

पाँचों पाण्डवों की पत्नी एक ही (द्रौपदी) होने के कारण उन्होंने आपस में यह नियम बना लिया था कि जब वह उनमें से किसी एक के साथ हो, तो अन्य चार भाइयों में से कोई भी वहाँ न जाए, अन्यथा नियम-भंग करने के कारण उसे बारह वर्ष का वनवास भोगना होगा।

एक बार एक ब्राह्मण अर्जुन के पास आया और बोला कि एक चोर उसकी गौएँ चुराकर ले जा रहा है। तब उसकी सहायता करने की इच्छा से अर्जुन शस्त्रागार की ओर रवाना हुआ, पर शस्त्रागार के मार्ग में युधिष्ठिर का शयनकक्ष था और द्रौपदी तब वहाँ थी। अर्जुन थोड़ा ठिठका, पर शस्त्र लाना भी आवश्यक था। अतः वह शयनकक्ष से होकर शस्त्रागार गया और वहाँ से शस्त्र लाकर, चोर से गौएँ छुड़ाकर ब्राह्मण को वापस कीं किन्तु मन ही मन उसे पश्चात्ताप हो रहा था कि उस युधिष्ठिर का एकान्तवास भंग किया है। अन्त में वह उनके पास गया और उन्हें सारी बातें सुनाकर उसने बारह वर्ष के वनवास के लिए अनुमति माँगी।

इस पर धर्मराज बोले, "अर्जुन, अपने से बड़ों के एकान्त में छोटे द्वारा जाने पर नियम-भंग नहीं माना जाएगा, अपितु वह क्षम्य होगा। उसे अपराध की संज्ञा नहीं दी जा सकती। हाँ, अपने से छोटे का एकान्तवास भंग करना दण्डनीय है और दण्ड न भुगतना अधर्म माना जाएगा।"

बात अर्जुन को जँची नहीं। बोला, "धर्मराज ! हमें यही सीख मिली है कि धर्म का पालन करते समय अपनी इच्छा या स्वार्थ के आधार पर अर्थ नहीं लगाना चाहिए। मैं अपने गाण्डीव की शपथ लेकर कहता हूँ कि मैं सत्य और धर्म से डिगूँगा नहीं। मैंने नियम-भंग किया है, इसलिए मुझे दण्ड मिलना ही चाहिए। आप मेरे प्रति ममत्व त्यागकर मुझे वनवास की आज्ञा दें।"

धर्मपालन के प्रति अर्जुन की निष्ठा और हठ देख युधिष्ठिर को अनुमति देनी पड़ी।

(२) यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते

एक बार भीम को पता चला कि धर्मराज युधिष्ठिर ने द्रौपदी के पैर दबाये हैं, तो उसे बड़ी ग्लानि हुई। वह सोचने लगा कि अब तो उलटा ही होने लगा है। जहाँ पत्नी को पति की सेवा करनी चाहिए, वहाँ पति पत्नी की सेवा करने लगा है। यह काम युधिष्ठिर ही कर सकते हैं। मैं तो ऐसा कदापि नहीं करूँगा।

बात श्रीकृष्ण को मालूम हुई। वे भीम के पास आये और बोले, "आज रात्रि को सामने के वटवृक्ष पर छिपकर बैठना और जो कुछ दिखायी दे, उसे चुपचाप देखते रहना, पर घबराना बिलकुल नहीं।" इस पर भीम बोला, "कृष्ण ! तुम मुझ महापराक्रमी को, जिसके नाम से कौरवों के खेमे में हलचल मच जाती है, न डरने की सलाह दे रहे हो !" भीम की यह दम्भोक्ति सुन कृष्ण मुसकरा उठे।

रात्रि को भीम वटवृक्ष पर जा बैठा। डेढ़ प्रहर के बाद उसे नये नये चमत्कार दिखायी देने लगे। एक तेजस्वी पुरुष आया और उसने सामने की भूमि साफ की। फिर वरुणदेव ने उस पर जलसिंचन किया। विश्व-कर्मा के चाकरों ने आकर मण्डप और सिंहासनों की व्यवस्था की। धीरे धीरे एक एक करके द्वारपाल उपस्थित हुए और फिर शुक, वामदेव, व्यास, नारद, इन्द्रादि देवों का आगमन हुआ और वे यथाक्रम अपने अपने आसन पर विराजमान हुए। इतने में उसे चारों पाण्डव भी आते दिखायी दिये और उन्होंने भी आसन ग्रहण किया। भीम यह देख चकित हुआ कि राजसिंहासन अब भी खाली है। इतने में उसे एक तेजस्वी नारी आती दिखायी दी। उसे देखते ही सारे देवता और ऋषि-मुनि उसके सम्मान में अपने आसन से उठ खड़े हुए। उस नारी के केश खुले हुए थे और भूमि को स्पर्श कर रहे थे। उसके हाथों में त्रिशूल, फरसा, तलवार आदि शस्त्र थे और उसने सिर पर भव्य मुकुट धारण किया था। उसके सिंहासन पर बैठते ही उपस्थित वृन्दों ने जय-जयकार किया। भीम ने सोचा कि यह तो महामाया मालूम पड़ती है, किन्तु जब उसने सूक्ष्मता से निरीक्षण किया, तो उसे वह स्त्री और कोई नहीं, वरन् द्रौपदी ही दिखायी दी।

द्रौपदी ने सारे देवताओं से कुशल-समाचार पूछे और फिर यम से पूछा कि आज कितने घड़े भर लाये हो। यम बोला, "देवी ! सात घड़ों में से छह तो असुरों

के रक्त से भरे हैं, पर एक खाली है।" "वह क्यों भरा नहीं ?" पूछे जाने पर उसने उत्तर दिया, "अभी कौरव-पाण्डवों का युद्ध चल रहा है, उसमें भीम के रक्त से यह घड़ा भर जाएगा।" द्रौपदी ने पुनः प्रश्न किया, "इसे भीम के रक्त से क्यों भरना है ?'' उत्तर मिला, "क्योंकि उसे अपनी शक्ति का बड़ा ही गर्व है।" "तब तो इसमें देर नहीं लगानी चाहिए," द्रौपदी ने आदेश दिया, "युद्ध के लिए न रुककर इसे अभी भरा जाए।" इस पर यम बोला, "भीम अभी कहीं दिखायी नहीं देता, वह सम्भवतः कहीं छिपा हुआ है।" इतने में नारद खड़े हुए और बोले, "भीम सामने के उस वटवृक्ष पर बैठा है ." अब तो भीम भय से काँपने लगा, उसका शरीर पसीने से तर हो गया। उसने सोचा, इस आपत्ति से द्रौपदी ही उसे बचा सकती है, उसी की शरण जानी चाहिए। वह वृक्ष पर से कूद पड़ा और उसने द्रौपदी के चरण पकड़ लिये। इतने में श्रीकृष्ण के शब्द सुनायी पड़े, "अरे भीम ! इतने पराक्रमी होकर भी तुम अपनी पत्नी के पैर पकड़े हुए हो ?" इस पर भीम ने उत्तर दिया, "द्रौपदी सामान्य स्त्री नहीं, प्रत्युत साक्षात् महामाया है।" यह सुन श्रीकृष्ण एकदम हँस पड़े और तब भीम के सामने का सारा दृश्य ओझल हो गया। न तो वहाँ सिंहासन था, न द्रौपदी और न देवता-मुनि, सामने केवल श्रीकृष्ण खड़े मुसकरा रहे थे।

(३) नास्त्यदेयं महात्मनाम्

एक दिन दुर्योधन के द्वार पर जाकर एक भाट उसका यशोगान करने लगा। दुर्योधन ने सुवर्णादि देकर उसका उचित सम्मान किया और कहा, "मैं कर्ण से भी अधिक दान देता हूँ, इसलिए अब से मेरा ही गुण-गान गाया करो।"

जब भगवान् विष्णु ने यह सुना, तो सोचा कि दुर्योधन की परीक्षा ली जाए। उन्होंने एक बूढ़े ब्राह्मण का वेश धारण किया और वे दुर्योधन के द्वार पर पहुँचे। दुर्योधन ने उन्हें आसन पर बिठाकर हाथ जोड़कर पूछा, "महाराज ! कैसे पधारे ? आपकी क्या सेवा करूँ ?"

ब्राह्मणदेवता बोले, "राजन् ! मुझे अन्न नहीं चाहिए, जल नहीं चाहिए, सुवर्ण नहीं चाहिए। मैं अपने माता-पिता का क्रियाकर्म करने द्वारिका जाना चाहता हूँ, पर वृद्धावस्था के कारण चलने में असमर्थ हूँ। इसलिए यदि मेरा बुढ़ापा लेकर अपना यौवन दे सको, तो बड़ी कृपा होगी। क्रियाकर्म करके लौटते ही तुम्हारा यौवन लौटा दूँगा।"

दुर्योधन तो यह माँग सुनकर चकित रह गया; बोला, "आप यौवन के बदले कुछ भी माँगिए, मैं देने को तैयार हूँ।" पर ब्राह्मण बोला, "मुझे तो बस यौवन की आवश्यकता है।" तब दुर्योधन बोला, "मैं अपनी पत्नी से पूछकर आता हूँ।" वह अन्तःपुर में गया और उसने सारा हाल पत्नी को सुना दिया। पत्नी बोली, "आप बढ़े हो जाने पर एक स्थान पर पड़े रहेंगे, ऐसी दशा में

में आपकी दिन-रात सेवा नहीं कर सकूँगी । आपको मैं यौवन का दान नहीं देने दूँगी ।" दुर्योधन बाहर आकर बोला, "देव ! मेरी पत्नी ने यौवन देने से मना कर दिया है, इसलिए मैं विवश हूँ ।"

विप्रदेवता उसे धिक्कारते हुए कर्ण के पास आये । कर्ण ने भी उनका यथोचित सम्मान किया और आने का प्रयोजन पूछा । ब्राह्मण ने अपनी इच्छा बता दी । इस पर कर्ण ने गद्गद् होकर कहा, "विप्रदेवता ! यह भी कोई बड़ी बात है ! यदि आप मेरा सारा शरीर भी सदा के लिए माँगें, तो मेरा जीवन सार्थक हो जाएगा ।" ब्राह्मण बोला, "पर तुम्हारे यौवन पर तो तुम्हारी पत्नी का अधिकार है, अतएव उसकी स्वीकृति आवश्यक है । अभी अभी एक राजा की पत्नी ने उसे यौवन-दान करने से मना कर दिया है । जाओ, उसकी अनुमति ले आओ ।"

कर्ण भी अन्तःपुर में गया और उसने ब्राह्मण की याचना बता दी । इस पर कर्णपत्नी बोली, "स्वामी ! हमारा जीवन क्षणभंगुर है । यदि जीते-जी इससे किसी की भलाई होती होगी, तो उसे हमें देने में बिलकुल देर नहीं करनी चाहिए । हमने यौवन का उपभोग तो पर्याप्त कर लिया है, अब बुढ़ापे में शान्ति मिल रही हो तो आपको पीछे नहीं हटना चाहिए । आप मेरी अनुमति के लिए व्यर्थ ही आये, आपको तो सीधे ही स्वीकार कर लेना था । आप बूढ़े होंगे, तब भी मेरे स्वामी रहेंगे और मैं अभी के समान आपकी सेवा करूँगी ।"

कर्ण ने ब्राह्मण को बताया कि उसकी पत्नी ने अनुमति दे दी है और वह अपना यौवन देने को तैयार है। तब विष्णु ने अपना रूप प्रकट किया और बताया कि वे उसकी परीक्षा ले रहे थे, जिसमें वह सफल हुआ है।

(४) धर्मश्चाधर्मरूपोऽस्ति

अभिमन्यु के विवाह के अवसर पर कृष्ण ने उपस्थित महानुभावों से कहा, "पाण्डवों ने सदैव सत्य और धर्म का सहारा लिया है, जबकि कौरवों ने छल-कपट से द्यूत में युधिष्ठिर को हराकर राज्य हड़प लिया है। इसके लिए धर्मयुक्त न्याय होना चाहिए। आप लोगों को इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। मेरा विचार है कि किसी योग्य व्यक्ति को भेजकर युधिष्ठिर को आधा राज्य देने की दुर्योधन को सलाह देनी चाहिए। इसी में दोनों का हित है।"

इस पर बलराम बोले, "मैं कृष्ण के इस कथन से सहमत हूँ कि हमें किसी योग्य व्यक्ति को भेजकर भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र आदि की उपस्थिति में नम्रतापूर्वक ऐसा प्रस्ताव करना चाहिए, जिससे युधिष्ठिर का हित हो। मुझे यह समझ में नहीं आता कि दूसरे अच्छे खिलाड़ी होते हुए भी युधिष्ठिर ने शकुनि को क्यों चुना था? पासे उलटे पड़ रहे थे, तब भी युधिष्ठिर चुप रहे। दोष शकुनि का नहीं है, युधिष्ठिर का है। इसलिए हमारा दूत धृतराष्ट्र को प्रणाम कर शान्तिपूर्वक धर्म और न्याय

की बातें करें, तभी स्वार्थ सिद्ध हो सकता है।"

बलराम के अन्तिम वाक्य सुनते ही सात्यकि को क्रोध आ गया, बोला, "कुछ लोग शूर होते हैं और कुछ कायर। एक ही कुल में शूरों और कायरों का जन्म लेना ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रक़ार एक वृक्ष की फलप्रद और फलहीन शाखाएँ होती हैं। हे बलराम! तुम्हें ही नहीं, इन सभी सुननेवालों को धिक्कार है, जो यह सुन रहे हैं कि दोष युधिष्ठिर का है। द्यूतकर्म के द्वारा राज्य के बारे में निर्णय लेने में धर्म कैसा? जिसने भीष्म-द्रोण जैसे गुरुजनों का कहना नहीं माना, वह क्या अब उनकी बात मानकर राज्य दे देगा? हमें तो 'शठं प्रति शाठ्यम्' की नीति का पालन करना चाहिए। हमें तो दुर्योधन से लड़कर उसे बन्दी बनाकर युधिष्ठिर के चरणों में उपस्थित करना चाहिए। आततायी शत्रुओं के वध में अधर्म कैसा? बल्कि शत्रु से याचना करना ही अधर्म है!"

(५) नामस्य किं प्रयोजनम्

एक बार धृतराष्ट्र ने संजय से कहा, "श्रीविष्णु के अनेक नाम दिखायी देते हैं। क्या वे सभी सार्थक हैं, या उन्होंने व्यर्थ ही अनेक नाम धारण किये हैं?" इस पर संजय बोले, "श्रीविष्णु के जितने भी नाम हैं, उन सबका कुछ न कुछ अर्थ है। मैं उनमें से कुछ के बारे में आपको समझाता हूँ—'कृष्' धातु सत्ता का वाचक है और 'ण' यानी आनन्द। इन दोनों भावों से युक्त होने

के कारण यदुकुल में अवतीर्ण हुए नित्य आनन्दस्वरूप में श्रीविष्णु 'कृष्ण' कहलाते हैं।"

वे आगे बोले, "नित्य, अक्षय, अविनाशी एवं परम भगवद्धाम का नाम 'पुण्डरीक' है। उसमें स्थित होकर जो अक्षतभाव से विराजते हैं, वे भगवान् 'पुण्डरीकाक्ष' कहलाते हैं। 'पुण्डरीक' यानी कमल और 'अक्षि' यानी नेत्र, इस प्रकार 'पुण्डरीकाक्ष' का अर्थ हुआ--कमल के समान जिसके नेत्र हैं वह। दस्युजनों का अर्दन(मर्दन) करने के कारण उन्हें 'जनार्दन' कहते हैं। वे सत्य से कभी च्युत नहीं होते और न सत्त्व से अलग होते हैं, इसलिए सद्भाव के सम्बन्ध से उनका नाम 'सात्वत' है। 'आर्ष' कहते हैं वेद को, उससे भासित होने के कारण भगवान् का एक नाम 'आर्षभ' है। शत्रुसेना पर विजय पानेवाले ये भगवान् किसी जन्मदाता के द्वारा जन्म ग्रहण नहीं करते, इस कारण 'अज' कहलाते हैं। देवता स्वयं प्रकाशरूप होते हैं, अतः उत्कृष्ट रूप से प्रकाशित होने के कारण उन्हें 'उदर' कहा गया है और 'दम' (इन्द्रिय-संयम) नामक गुण से सम्पन्न होने के कारण उनका नाम 'दाम' है। इन दोनों शब्दों के संयोग से वे 'दामोदर' कहलाते हैं। वे हर्ष अर्थात् सुख से युक्त होने के कारण 'हृषीक' हैं और सुख-ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण 'ईश' हैं, इसलिए वे 'हृषीकेश' नाम धारण करते हैं। अपनी दोनों बाहुओं द्वारा इस पृथ्वी और आकाश को धारण करते हैं, इसलिए उनका नाम 'महाबाहु' है।

"नरों (जीवात्माओं) के अयन (आश्रय) हैं, अतः 'नारायण' हैं। सर्वत्र परिपूर्ण हैं तथा सबके निवासस्थान हैं, इसलिए 'पुरुष' हैं और सब पुरुषों में उत्तम होने के कारण उन्हें 'पुरुषोत्तम' की संज्ञा दी गयी है। वे सत् और असत् सबकी उत्पत्ति और लय के स्थान हैं तथा उन सबका ज्ञान रखते हैं, अतः उन्हें 'सर्वज्ञ' कहते हैं। वे सत्य में प्रतिष्ठित हैं और सत्य उनमें, इसलिए उनका एक नाम 'सत्य' भी है। वामनावतार में तीनों लोकों का विक्रमण करने के कारण वे 'विष्णु' कहलाते हैं। सब पर विजय पाने के कारण वे 'जिष्णु' हैं, शाश्वत या नित्य होने से 'अनन्त' हैं तथा गौओं (इन्द्रियों) के ज्ञाता एवं प्रकाशक होने के कारण 'गां विन्दति' व्याख्या के अनुसार उनका नाम 'गोविन्द' है।"

बूढ़ा तोता कहीं राम-राम कहता है? सुग्गे का कण्ठ फूटने पर वह और पढ़ना नहीं सीख सकता। ऐसे ही, छुटपन में पढ़ाने से बालक पढ़ सकता है। बूढ़ापे में मनुष्य का मन ईश्वर की ओर नहीं झुकता। बाल्यावस्था में बिना परिश्रम उधर झुकाया जा सकता है।

—श्रीरामकृष्ण

श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में श्री सारदा देवी के कुछ संस्मरण

संकलनकर्ता– *स्वामी चेतनानन्द*

(गतांक से आगे)

(वार्तालाप के प्रसंग में श्री माँ सारदा बहुधा श्रीरामकृष्ण देव के संस्मरण सुनाया करती थीं। ऐसे ही कतिपय प्रसंगों का संकलन रामकृष्ण संघ के हालीवुड केन्द्र के स्वामी चेतनानन्द द्वारा किया गया था और वह 'वेदान्त केसरी' अँगरेजी मासिक में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत लेख तीसरी और अन्तिम किस्त है। ——स०)

ठाकुर की बीमारी का तात्पर्य

बीमारी के समय ठाकुर ने आंवला खाने की इच्छा प्रकट की। दुर्गाचरण (नाग महाशय) तीन दिन तक बिना भोजन और निद्रा के ढूँढ़ने के बाद कहीं से कुछ आँवले लेकर आये। ठाकुर ने उनको भोजन करने के लिए कहा और स्वयं उसमें से कुछ चावल खाकर उसको प्रसादी कर दिया। मैंने ठाकुर से कहा, "तुम तो चावल मजे से खा ले रहे हो। फिर क्यों तुम्हारे भोजन में सिर्फ दलिया की खीर रहती है ? तुम खीर की बजाय चावल खाओ।" "नहीं, नहीं," वे बोल उठे, "अपने जीवन के इन अन्तिम दिनों में मैं दलिया ही खाऊँगा।" उन्हें दलिया खाने में भी बड़ा कष्ट होता। प्रायः वे उसे नाक के रास्ते उगल देते।

ठाकुर कहा करते, "मैं तुम सब लोगों के निमित्त इतना सह रहा हूँ। मैंने अपने ऊपर सारे संसार की पीड़ा ले ली है।" ठाकुर ने इतना सब कष्ट इसलिए

भोगा कि उन्होंने गिरीश के सारे पापों को अपने ऊपर ले लिया था।

कर्मफल

सुख और दुःख के लिए एकमात्र कर्म ही जिम्मेदार है। यहाँ तक कि ठाकुर को भी कर्मफल के कारण भुगतना पड़ा। एक बार उनके बड़े भाई सन्निपात की अवस्था में पानी पीने लगे। वे थोड़ासा ही पी पाये थे कि ठाकुर ने उनके हाथ से गिलास छीन लिया। इस पर भाई क्रोधित हो बोल उठे, "तूने मुझे पानी पीने से रोक दिया, इसलिए जा, तुझे भी इसी प्रकार भुगतना पड़ेगा। तू भी इसी प्रकार गले में पीड़ा अनुभव करेगा।"

ठाकुर बोले, "भैया, मैं तुम्हें तकलीफ थोड़े ही देना चाहता था। तुम बीमार हो। पानी से तुम्हें नुकसान होगा। इसीलिए मैंने गिलास तुमसे छीन लिया। फिर तुमने मुझे क्यों इस प्रकार शाप दे दिया?" बड़े भाई रोते हुए बोले, "भाई, मैं नहीं जानता कि कैसे ऐसे वचन मेरे मुँह से निकल गये? अब उनका फल तो होगा ही।" अपनी बीमारी के समय ठाकुर ने मुझसे कहा था, "मेरे गले का यह घाव उसी शाप के कारण है।" मैंने तब उनसे कहा, "यदि तुम्हें भी ऐसा शाप लग जाता है, तब मनुष्य भला कैसे रहे?" ठाकुर बोले, "मेरे भैया साधु स्वभाव के थे। उनके वचन सत्य होंगे ही। जिस-तिसके वचन थोड़े ही फलते हैं।"

कर्म का फल अवश्यम्भावी है। परन्तु ईश्वर का

नाम लेने से तुम उसकी तीव्रता कम कर ले सकते हो। यदि तुम्हारे भाग्य में फाल से घाव होना बदा हो, तो उसकी जगह सुई की चुभन लगकर रह जायगी। कर्म का फल बहुत हद तक जप और तपस्या से कट जाता है।

एक दुर्घटना

ठाकुर लड़कों के साथ खूब हँसी-विनोद करते थे। नरेन (स्वामी विवेकानन्द) और बाबूराम (स्वामी प्रेमानन्द) दोनों हँसते हँसते जमीन पर लोट-पोट हो जाते। एक समय काशीपुर बगीचे में रहते समय, दूध का बर्तन ले जाते समय मैं सीढ़ी से चक्कर खाकर गिर पड़ी। सारा दूध बिखर गया और पैर में मोच आ गयी। नरेन और बाबूराम दोनों दौड़ते हुए आये और मुझे सहारा दिया। पैर बहुत सूज गया। ठाकुर ने जब यह दुर्घटना सुनी, तो बाबूराम से कहने लगे, "अच्छा, बाबूराम, यह तो अच्छी मुसीबत में मैं फँस गया। मेरे लिए अब खाना कौन पकाएगा? मुझे कौन खिलाएगा?" उस समय वे गले के कैन्सर से पीड़ित थे और सिर्फ दलिया की खीर पर रहते थे। मैं ही उसे बनाती और मकान के ऊपरी मंजिलवाले उनके कमरे में उनको खिलाती। उस समय मैं नाक में नथ पहना करती थी। ठाकुर ने अपनी नाक को छूकर अपनी अँगुलियों से एक गोल आकार बनाया, जिससे मेरे सम्बन्ध में इंगित हो सके। फिर बोले, "बाबूराम, तू उसको (फिर उसी प्रकार इंगित कर) टोकनी में बिठाकर अपने कन्धे पर रखकर

ला सकता है ?" नरेन और बाबूराम यह सुनकर हँसते हँसते लोट-पोट हो गये। इस प्रकार वे उन लोगों के साथ विनोद किया करते। तीन दिन बाद कहीं सूजन कम हुई। तब उन लोगों की सहायता से मैं उनका खाना लेकर ऊपर चढ़ सकी। वे तीन दिन गोलाप-माँ ने उनका खाना बनाया था और नरेन ने खिलाया था।

देह और आत्मा

सभी कुछ—पति, पत्नी, यहाँ तक कि देह भी माया है। ये सब माया के बन्धन हैं। जब तक तुम इन सब बन्धनों से अपने को मुक्त नहीं कर लेते, तब तक भवसागर के दूसरे किनारे नहीं पहुँच सकते। देह के प्रति यह आसक्ति भी, आत्मा का देह के साथ तादात्म्य भी दूर होना चाहिए। बेटे, यह शरीर भला है क्या! जलने के बाद यह मात्र मुट्ठी भर राख के अलावा और है क्या? इसके लिए फिर इतना अहंकार क्यों? कितनी भी बलिष्ठ देह क्यों न हो, उसका अन्त तो बस वही मुट्ठी भर राख ही है। फिर भी लोग इसके प्रति इतने आसक्त हैं। अद्भुत भगवान् की माया!

ठाकुर कहते थे, "कस्तूरी बनती है मृग की नाभि में। उसकी गन्ध से मुग्ध हो उसकी तलाश में मृग इधर-उधर दौड़ता है। वह नहीं जानता कि गन्ध कहाँ से आ रही है। उसी प्रकार भगवान् मानव के शरीर के भीतर हैं, पर मनुष्य यह नहीं जानता। इसलिए आनन्द की तलाश में वह इधर-उधर भटकता है, बिना यह जाने

कि वह तो उसके भीतर पहले से ही है।"

ईश्वर ही एकमात्र सत्य हैं, शेष सब असत्।

अभ्यास ! अभ्यास ! अभ्यास !

क्या कोई ईश्वर के दर्शन प्रतिदिन पा सकता है ? ठाकुर कहा करते थे, "क्या मछली पकड़नेवाला प्रतिदिन जब भी अपनी बंसी पानी में डालता है, तो झट बड़ी मछली पकड़ लेता है ? सारी व्यवस्था करके वह एकाग्र चित्त से बंसी लेकर बैठता है। कभी-कभार कोई बड़ी मछली काँटे में फँसती है। अनेक बार उसे निराश होना पड़ता है।" अतएव अपनी साधना में ढिलाई मत करो। जप अधिक संख्या में करो।

बेटे, इतने उतावले क्यों होते हो ? तुम्हें जो मिला है, उसी से क्यों नहीं लगे रहते ? हमेशा याद रखना, "यदि और कोई नहीं तो कम से कम मेरी एक माँ है !" क्या तुम्हें ठाकुर के वे शब्द याद हैं ? उन्होंने वचन दिया था कि जो भी उनकी शरण लेंगे, सबके लिए वे अपना स्वरूप प्रकट करेंगे--कम से कम मृत्यु के समय तो अवश्य दर्शन देंगे। वे सबको अपने पास खींच लेंगे।

"घर घर में मैं पूजा जाऊँगा।"

एक समय जब ठाकुर बीमार होकर काशीपुर में थे, तब कुछ भक्त दक्षिणेश्वर के मन्दिर में जगन्माता काली को चढ़ाने के निमित्त कुछ भोग लेकर गये। यह पता लगने पर कि ठाकुर काशीपुर में हैं, उन्होंने वह भोग उनकी तस्वीर के सम्मुख निवेदन कर दिया तथा

उसके बाद प्रसाद ग्रहण किया। जब ठाकुर ने यह सुना, तो बोल उठे, "वह सब चीज जगन्माता के लिए लायी गयी थी और उन लोगों ने वह यहाँ (स्वयं की ओर इंगित कर) निवेदित कर दी!" यह सुनकर मैं तो बहुत चिन्तित हो गयी और सोचने लगी, "ये इतनी कठिन बीमारी से पीड़ित हैं। कौन जाने क्या होगा? कैसी विपत्ति है? उन लोगों ने ऐसा भला क्यों किया?" *

ठाकुर भी इस घटना को बार बार दुहरा रहे थे। बाद में रात्रि के समय मुझसे बोले, "तुम देखोगी, कुछ समय बाद घर घर में मैं पूजा जाऊँगा। तुम देखोगी, सब इसे (अपने को दिखाकर) स्वीकार कर रहे हैं। यह अवश्यमेव होनेवाला है।" यही एकमात्र दिन था, जब मैंने उन्हें स्वयं के लिए 'मैं' शब्द का प्रयोग करते देखा। अन्यथा अपने लिए वे 'मैं' या 'मेरा' कहने की बजाय 'यह खोल' अथवा 'इसके लिए' कहकर अपनी देह की ओर इंगित करते थे।

आकुलता और दर्शन

जो ईश्वर को आकुल होकर पुकारेगा, वह उनके दर्शन पाएगा। कुछ दिन पहले हम लोगों का एक भक्त —तेज चन्द्र मित्र—चल बसा। कितना सरल था वह! ठाकुर उसके यहाँ कभी कभी जाया करते थे। किसी ने

* जो वस्तुएँ देवता के निमित्त लायी गयी हों, उन्हें एक मनुष्य के निमित्त अर्पित करना देवद्रोह समझा जाता है, अतः यह भय स्वाभाविक है कि उससे कोई विपत्ति न आ जाए।

तेज चन्द्र के पास दो सौ रुपये जमा किये थे। ट्राम में जाते समय किसी पाकेटमार ने उसे चुरा लिया। कुछ समय बाद यह पता लगने पर उसे अत्यन्त मानसिक वेदना होने लगी। गंगा के किनारे पहुँचकर वह अश्रुपूर्ण नेत्रों से ठाकुर से प्रार्थना करने लगा, "प्रभु, यह तुमने मेरे साथ क्या किया !" उसकी आर्थिक परिस्थिति ऐसी न थी कि वह अपनी जेब से उस नुकसान की पूर्ति कर पाता। जब वह इस प्रकार रुदन कर रहा था, तो ठाकुर उसके सामने प्रकट हो गये और बोले, "इतना क्यों रोता है ? वे रुपये वहाँ गंगा के किनारे ईंट के नीचे दबे रखे हैं।" उसने झट वह ईंट हटायी तो देखा कि वास्तव में वहाँ नोटों का एक बंडल रखा है। उसने यह घटना शरत् (स्वामी सारदानन्द) को बतलायी। शरत् बोला, "तुम भाग्यवान हो कि अब भी तुम्हें ठाकुर के दर्शन प्राप्त हुए। पर हम तो उन्हें नहीं देखते।" शरत् या उसके जैसे जो हैं, वे ठाकुर को और क्यों नहीं देखते ? कारण यह है कि उन लोगों ने ठाकुर को जी भरकर देखा है और उन सबकी सारी इच्छाएँ तृप्त हो गयी हैं।

दर्शन

जब ठाकुर चले गये, तब मैं भी देह त्याग देना चाहती थी। वे मेरे सामने प्रकट हुए और बोले, "नहीं, तुम्हें रहना है। अभी बहुत सा काम बाकी है।" मैंने भी बाद में अनुभव किया कि यह सच ही था; मुझे बहुत कुछ करना था। ठाकुर कहा करते थे, "कलकत्ते

के लोग अँधेरे में कीड़ों की तरह विलविला रहे हैं। तुम उन्हें राह दिखाओगी।" उन्होंने कहा था कि वे अपने भक्तों के हृदय में सूक्ष्म शरीर से और एक सौ साल तक रहेंगे। उन्होंने यह भी कहा था कि गौरांग लोगों में उनके बहुत से भक्त होंगे।

ठाकुर के चले जाने के बाद मैं पहले बहुत भयभीत हुई, क्योंकि तब मैं पतली लाल किनार की साड़ी और सोने के कंगन पहना करती थी। लोगों की आलोचना का डर था।* एक दिन ठाकुर मेरे सामने प्रकट हुए और खिचड़ी बनाकर खिलाने के लिए बोले। मैंने वह बनाकर श्री रघुवीर (कामारपुकुर में श्रीरामकृष्णदेव के कुलदेवता) को निवेदित किया। फिर उसके बाद मन ही मन ठाकुर को खिलाया।

वृन्दावन जाते समय अपने रेलडिब्बे की खिड़की के पास मैंने ठाकुर को देखा। वे मुझसे बोले, "तावीज का ख्याल रखना, कहीं खो न जाय।" उन्होंने अपनी तावीज मुझे दी थी और मैं उसे बाँह में पहने हुई थी। मैं उसकी पूजा किया करती थी। बाद में मैंने उसे बेलुड़ मठ को दे दिया और अब वे लोग उसकी वहाँ पूजा करते हैं।

* परम्परा के अनुसार, हिन्दू विधवाओं को बिना किनार की साड़ी पहननी पड़ती है और समस्त गहनों का त्याग करना पड़ता है। पहले-पहल श्री माँ भी हिन्दू विधवाओं के इस नियम के अनसार चलना चाहती थीं, पर श्रीरामकृष्ण ने दर्शन देकर उन्हें ऐसा करने से मना किया और बताया कि वे वास्तव में दिवगत नहीं हुए हैं।

"प्रत्येक युग में मैं लौटकर आता हूँ"

ठाकुर ने कहा था कि वे सौ साल बाद फिर लौटकर आएँगे। इस बीच ये सौ वर्ष वे भक्तों के हृदय में रहेंगे। दक्षिणेश्वर के अर्धगोलाकार बरामदे में खड़े होकर ठाकुर ने वायव्य दिशा की ओर अँगुली दिखाते हुए यह बात कही थी। मैंने उनसे कहा कि मैं तो फिर से नहीं आ सकती। लक्ष्मी बोली कि वह भी फिर से नहीं आएगी, भले ही तम्बाकू के पत्ते जैसे उसके टुकड़े टुकड़े कर दिये जायँ! ठाकुर हँसे और बोले, "तुम आना कैसे रोक सकती हो? हमारी जड़ें तो कलमी पान* की तरह एक साथ जुड़ी हैं, एक डण्डी पकड़कर खींचो तो पूरा गुच्छा ही सामने आ जाता है।"

ठाकुर कहते थे, "तुम बगीचे में आम खाने आये हो; बहुत अच्छा है, आम खाओ, आनन्द लो और चले जाओ। वहाँ कितनी डालें या पत्तियाँ हैं, इससे तुम्हें क्या काम?"

(समाप्त)

●

---

* पानी की सतह पर होनेवाली एक बेल।

जब मन दुष्ट वासना में लिप्त होता है, तब वह मानो कसाईटोले में निवास करता है।

—श्रीरामकृष्ण

स्वामी अखण्डानन्द के चरणों में (४)

"एक भक्त"

(स्वामी अखण्डानन्द श्रीरामकृष्ण के संन्यासी-शिष्यों में सबसे छोटे थे। उनके संस्मरणों और उपदेशों के लेखक 'एक भक्त' स्वामी अखण्डानन्द के शिष्य हैं और रामकृष्ण संघ के एक संन्यासी हैं। ये संस्मरण बँगला में 'स्वामी अखण्डानन्देर स्मृति-संचय' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत लेख वहीं से गृहीत हुआ है। --स०)

मार्च का द्वितीय सप्ताह, १९३६

स्वामी अखण्डानन्द को बेलुड़ मठ आये लगभग महीना भर हो गया है। अगले सप्ताह वे सारगाछी चले जाएँगे। अतः भक्तगण उनके दर्शनों के लिए आ रहे हैं।

वे स्वामी विवेकानन्द के कमरे के बाजूवाले कमरे में आरामकुर्सी में बैठे हुए हैं। कुछ संन्यासी और भक्त-गण खड़े हुए हैं और कुछ जमीन पर बैठे हैं। बाबा* १९३४ ई० में हुए बिहार भूकम्प राहत कार्य के सम्बन्ध-में कह रहे हैं--"मैं राहत कार्य देखने गया। पीड़ितों की दुर्दशा देख मेरा हृदय उतना व्यथित नहीं हुआ, जितना कि राहत कार्य की अधकचरी व्यवस्था को देख। जो भी यथार्थ में राहत कार्य किया गया, भले ही वह अपर्याप्त रहा हो, वह हमारे लड़कों ने किया। दूसरे तो मानो तमाशा देखने के लिए वहाँ आये मालूम पड़ते थे--तनिक भी गम्भीरता उनमें नहीं थी।"

० ० ०

---

* अधिकांश भक्तों के बीच स्वामी अखण्डानन्द इसी नाम से परिचित थे।

बाबा दो-एक दिन में सारगाछी प्रस्थान कर जाएँगे। अतः भक्त अकेला ही उनके दर्शन के लिए आ उपस्थित हुआ। बाबा ने बड़ी कोमलता से कहा, "तुम तो बहुत शीघ्र सारगाछी आ रहे हो, है न ? इस बार अधिक दिन रहने की तैयारी करके आना। यहाँ तो बड़ी भीड़ है। वहाँ तुम्हारे अपने घर के समान शान्त वातावरण है।"

२४ अप्रैल (अक्षय तृतीया)

मातृसदन उद्‌बोधन में प्रसाद ग्रहण कर, भक्त वहीं के एक वरिष्ठ संन्यासी को साथ ले शाम की ट्रेन से सारगाछी पहुँचा। ये वरिष्ठ संन्यासी श्री माँ के शिष्य थे। उन्होंने भक्त को एक महत्त्वपूर्ण और सामयिक सलाह दी—"जब तुम यहाँ आये हो, तो महाराज के सान्निध्य में जितना समय बिता सको, बिताओ। वह तुम्हारे लिए उपकारी होगा।"

दूसरे दिन सुबह बाबा ने भक्त से कहा, "तुम्हारा यहाँ का निवास उपयोगी होना चाहिए। जहाँ भी तुम्हें रहना पड़े, वहाँ कोई उपयोगी और जिम्मेदारी का काम लेकर रहो; तब तुम दूसरों के साथ शान्तिपूर्वक रह सकोगे। नहीं तो तुम्हें लगेगा कि तुम अपना समय खराब कर रहे हो और दूसरे सोचेंगे कि तुम बिना किसी प्रयोजन के रह रहे हो। लो, यह चाबी (नकद पेटी की) लो और मेरा हिसाब रखो। जब मैं तुमसे कहूँ, तब भुगतान करना। अब तुम्हें कुछ काम मिला—क्यों खुश

हो या नहीं ? नकद पेटी इसी कमरे में है। जब भी तुम्हें बुलाऊँ, आ जाना। मुझसे अधिक दूर मत रहो। तुम मेरे पास आये हो, मेरे काम में लग जाओ। ठीक आठ बजे सुबह यहाँ आ जाया करना।"

दूसरे दिन सुबह भक्त लगभग २० मिनट देर से पहुँचा। बाबा ने डाँट लगायी, "इतनी देर क्यों ? क्या ऊपर पूजाघर में थे ? जप कर रहे थे ?" किसी ने कहा, वह गीतापाठ कर रहा था।" बाबा तुरत बोल उठे, "तो तुम गीतापाठ कर रहे थे ? जानते हो गीता कैसे पढ़नी चाहिए ? एक दिन तुम्हें सिखाऊँगा, तब सीखकर पढ़ना। गीता में भी वही बात है, जो तुम्हें मैंने अभी बतायी है।

कुछ समय बाद बाबा common sense (साधारण बुद्धि) के सम्बन्ध में कहने लगे, "स्वामीजी (विवेकानन्द) ने पश्चिम का मन जो जीता, वह वेदान्त के द्वारा उतना नहीं था, जितना कि common sense (साधारण बुद्धि) के द्वारा। आजकल इस common sense (साधारण बुद्धि) का बड़ा अभाव है। विश्वविद्यालयों में इसका विकास तो दूर रहा, इसका नाश ही होता है। मैंने ऐसे एम. ए. और बी. ए. डिग्रीधारी देखे हैं, जो मूर्खों की तरह बातें करते हैं, पर यहाँ तुम गाँवों में ऐसे गरीब किसान पाओगे, जो common sense (साधारण बुद्धि) के साथ बात करते हैं।"

सन्ध्या के समय बाबा बाहर कैम्पखाट पर बैठे थे।

शरीर पर कमर तक कोई कपड़ा नहीं था। वे खुले गले से गा रहे थे--

जाको रटत वेद शिव शुक नारद।
रटत युग युग, पार नहि पावत ॥

फिर कहने लगे, "यह सब हरिद्वार-ऋषिकेश के साधुओं के गीत हैं। कैसा गम्भीर भाव है और स्वर भी कैसा गम्भीर है! मैं गा अच्छा नहीं सकता था, इसलिए स्वामीजी ने कहा था--'तेरा स्वर-उच्चारण अच्छा है। स्तोत्र-पाठ करना।' कहीं यदि स्वामीजी गाते, तो मुझसे कहते--'स्वर मिलाकर एक स्तोत्र तो बोल'।"

भोर में उठने के सम्बन्ध में बाबा कहने लगे, "खेतड़ी के महाराज देर से उठते थे। एक दिन उनसे मैंने कहा, 'जो अधिक खाता है और जो देर से सोकर उठता है, ऐसे लोगों को लक्ष्मी छोड़कर चली जाती है।' तब से वे भोर में उठने लगे--मुझसे भी पहले। उठकर देखता हूँ, महाराजा हँस रहे हैं, कभी छत पर टहल रहे हैं, फिर कभी रोशनी जलाकर पढ़ रहे हैं। उनका ग्रन्थालय बहुत बड़ा था।

"ठाकुर और ठाकुर के सब लड़के भोर में उठ जाते थे। एक दिन मठ में शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) और मैं एक कमरे में सोये हुए थे। मंगलारती हो गयी। मुझे लगा कि ठाकुर उठ गये और मैं अभी भी सोया हुआ हूँ! छिः छिः! शीघ्र उठ पड़ा। कुछ ही समय बाद शरत् महाराज उठे। उन्होंने सोचा कि मैं सोया हुआ हूँ। उन्होंने जब मुझे उठा देना चाहा, तो मैंने एक मजा किया--झिलमिली

खड़काकर जता दिया कि मैं जग गया हूँ। बाद में जिससे भोर में कहीं सोया न रहूँ, मैं सोते समय अपने आप से कहता था—'अखण्डानन्द, ठीक तीन बजे उठ जाना।' ठीक तीन बजे कोई मानो पुकारकर जगा देता—'अखण्डानन्द, उठो, तीन बज गये।' ठाकुर किस समय सोते थे यह पता नहीं। स्वामीजी का भी वैसा ही था। जब भी रात में उन्हें पुकारता, तो उनका उत्तर पाता।

"जीवन जितना ऊँचा होता है, नींद उतनी कम होती है। शरीर को बली और सुदृढ़ होना चाहिए। भोर में उठ जाना। बिस्तर पर ही थोड़ा ध्यान-चिन्तन कर लेना। उस समय मन शान्त रहता है। फिर बिस्तर उठाकर कमरे में झाड़ू लगाना, सब साफ करना और पानी के छींटे देना। जो भी करो, भाव के साथ करना।"

० ० ०

खरीदी के सम्बन्ध में बाबा एक व्यक्ति से कह रहे हैं, "मोल-भाव करना और पुरौनी* जरूर लेना। जो यहाँ ठगाता है, वह वहाँ भी ठगाता है। जिसके यहाँ है, उसके वहाँ भी है। धर्म के रास्ते चलेगा, तो ठगाएगा क्यों? भक्त होगा, तो मूर्ख क्यों होगा? जो ठगता है और जो ठगाता है, दोनों ही एक जैसे हैं। ठाकुर की 'पुरौनी' लेने की बात बहुत मानकर चलता हूँ। शाल की पुरौनी में मैंने ऊनी रूमाल लिया। काश्मीर में शाल खरीदी। मैं बोला, 'पुरौनी दोगे तो खरीदूँगा, नहीं तो

* पैसे के बदले जितना प्राप्त हो, उससे कुछ अतिरिक्त लेना।

नहीं।' दुकानदार बोला, 'यह कैसी बात ? शाल की भला क्या पुरौनी दूँगा ?' मैंने कहा, 'क्यों, ऊनी रूमाल दे सकते हो ?' वह बोला, 'उसका दाम भी तो तीन-चार रुपया है।' मैं बोला, 'ठीक है, तब रहने दो। गुरु का हुकुम है--पुरौनी दोगे तभी लूँगा।' अन्त में उसने एक ऊनी रूमाल दिया। बरहमपुर के राखाल ने भी यह सीख लिया है। सिल्क के कपड़े के साथ एक रूमाल उसने पुरौनी में लिया।"

मई का महीना। दोपहर का समय। १२-१२॥ बजे होंगे। तेज धूप है। बाबा ने भक्त को बुला भेजा है--ककड़ीवाले को पैसे देने हैं। वह बेचारा बाहर खड़ा हो मोल-भाव कर रहा है। वह चाहता है साढ़े पाँच आना और बाबा कह रहे हैं कि पाँच आना। दोनों ही अपनी अपनी बोली छोड़ेंगे नहीं। बाबा स्नान कर कमरे में लौट रहे हैं। सिर पर भीगा गमछा है, दरवाजे के पास खड़े हो मोल-भाव कर रहे हैं।

भक्त को यह देख कुछ क्रोध आया है और चिढ़ भी हो रही है कि क्या दो पैसे के लिए बाबा खुद भी तंग हो रहे हैं और उसे भी तंग कर रहे हैं। वह साढ़े पाँच आना पैसा हाथ में ले खड़ा है। अन्त में सवा पाँच आने में मामला सुलझा। ककड़ीवाला ककड़ी दे और पैसा ले चला गया। बाबा ने भी सिर पर गमछा रखा और एक को पुकारकर कहा, "ये ककड़ियाँ ले जा।"

बाद में भक्त से वे कहने लगे, "तुम लोग शहरी

बाबू ठहरे, यह सब क्या समझोगे ? जो माँगा, दे दिया। वह अभी घर वापस लौट रहा है। यह सब क्या सिर पर उठाकर घर लौटेगा ? थोड़ा और मोल-भाव करने से ठीक पाँच आने में ही दे देता। पर देखा कि तुम यह सब नहीं सह पा रहे हो—खाली पैसा गिन रहे हो।

"जब पहाड़ों और जंगलों में घूमा करता, तब रुपया-पैसा छूता तक न था, उससे कोई सम्बन्ध न था। यहाँ जब ठाकुर ने संसार फैलाया है, तो सब कुछ देखना होगा—खर्च कम हो, आय अधिक हो। फिर public money (जनसाधारण द्वारा दिया गया पैसा) है—भक्तों ने अपना खून पसीना बनाकर यह पैसा कमाया है। वे ठाकुर के नाम पर देते हैं—तुम्हें या मुझे देख तो देते नहीं। इसलिए यह देखना हमारा कर्तव्य है कि कैसे एक पैसा बचाया जा सकता है।"

स्वामी अभेदानन्द के एक शिष्य का पूर्वाश्रम बरहमपुर में था। वे किसी काम से वहाँ आये हुए थे। वापस लौटने के समय वे एक बार बाबा के दर्शन करने सारगाछी आये हैं। ठाकुर का प्रसंग छिड़ा हुआ है। बाबा कह रहे हैं, "ठाकुर की देह जब काशीपुर के उद्यानभवन से श्मशानघाट ले जायी गयी, तब मैंने खाट को पकड़ा मात्र था। मैं छोटा जो था ! जाते जाते भजन-संकीर्तन हुआ था—

यादवाय माधवाय केशवाय नमः।
हरिहरये नमः कृष्णयादवाय नमः।

उनके शरीर पर खूब घी मला गया था। चिता में अग्नि देते ही जोरों से धधक उठा। उन्हें पूर्व रात्रि में समाधि लग गयी थी। समाधि तोड़ने के लिए कप्तान के परामर्श के अनुसार घी मला गया था, पीठ में--मैं सारी रात मला। कुहनी से घी बाहर टपक रहा था।"

शिष्य ने पूछा, "ठाकुर ने ही क्या आपको गेरुआ वस्त्र दिया था ? पुस्तक में जो बारह नाम प्रकाशित हैं, उनमें आपका नाम नहीं है, इसलिए पूछ रहा हूँ।"

महाराज बोले, "हाँ, उन्हीं ने मुझे गेरुआ दिया था। स्वामीजी ने केवल विरजा होम किया था और नाम दिया था--वह बहुत बाद की बात है। गेरुआ दे ठाकुर ने कहा था, 'तू सकेगा—पतन नहीं होगा।' उनके आशीर्वाद के बल पर ही यह जीवन कट गया। पुस्तक में क्या लिखा है मालूम ? बूढ़े गोपालदा बारह वस्त्र गेरुआ में रँगकर काशीपुर ले आये और ठाकुर से उन्होंने कहा, 'गंगासागर जानेवाले साधुओं को देने जा रहा हूँ।' ठाकुर बोले, 'कहाँ जायगा ? यहीं तो अच्छे अच्छे साधु हैं।' यह कह जो जो वहाँ थे, उन लोगों को दिया। एक वस्त्र गिरीशबाबू के लिए रख दिया। हम लोगों को दूसरे एक दिन दिया था। ये गेरुआ वस्त्र रख दिये गये थे। तब कोई पहनता नहीं था। वराहनगर मठ में ये पहने गये। तुम लोगों की बात क्या है, बताऊँ ? चूँकि ईसा मसीह के बारह शिष्य थे, अतः ठाकुर के भी उतने ही होने होंगे--न कम, न ज्यादा !"

बीच में डाक की चिट्ठियाँ बाबा को पढ़कर सुनानी

होती हैं। पहली चिट्ठी के लेखक ने लिखा है—"मन में वैराग्य उठ रहा है, क्या करूँ, कृपया उपदेश दें।"

बाबा सुनकर बोले, "उसके वैराग्य-फैराग्य का कोई मतलब नहीं। यदि किसी को सचमुच वैराग्य हो, तो क्या वह लिखता है? चुपचाप निकल पड़ता है। ठाकुर की वह किसानवाली कहानी ख्याल है तो? —ज्योंही वैराग्य हुआ, कन्धे पर गमछा रख निकल पड़ा। उसकी पत्नी ने कहा था, 'मेरा भैया थोड़ा थोड़ा करके संसार को छोड़ते जा रहा है।' किसान बोला, 'अरी पगली, जिसे वैराग्य होता है, वह क्या थोड़ा थोड़ा करके संसार छोड़ता है? एकदम निकल पड़ता है—बस, इस तरह!'

"एक किसान ने रात में सपना देखा—उसके सात लड़के हुए हैं। नींद खुलने पर देखा—कहाँ, कुछ तो नहीं? इधर उसी दिन उसका जाग्रत् का एक लड़का चल बसा। अब किसके लिए रोये?—इस एक लड़के के लिए, या उन सात लड़कों के लिए। स्वप्न सत्य है, न जाग्रत्? स्वप्न के सात लड़के यदि मिथ्या हों, तब तो जाग्रत् का एक लड़का भी मिथ्या होगा—ऐसा सोचते सोचते वैराग्य हो आया और वह निकल पड़ा।"

एक दूसरे ने लिखा है—"विवाह करूँ या नहीं?"

"वाह रे! मानो मैं कहूँ कि तुम विवाह करो! 'माँ कहती है, भैया कहते हैं—उसकी अपनी जैसे तनिक भी इच्छा नहीं। देखना वह ठीक शादी करेगा, नहीं तो क्या कोई लिखता है! मुझे लिखने का क्या प्रयोजन? मैं

यदि 'ना' कह दूँ तो साहबजादे जैसे शादी ही न करेंगे !"

० ० ०

उत्सव समीप आ गया है। बाबा सदैव इसी विचार में हैं कि ठाकुर का उत्सव कैसे निर्विघ्न समाप्त हो। कह रहे हैं—"सोचता था कि क्या करूँ ? सु—को किसका भार सौंपूँ ? ठाकुर ने मानो स्पष्ट रूप से कहा, 'महोत्सव की खरीदारी'। सत्य कहता हूँ, पहले तो लगा कि खुद ही सोच रहा हूँ, खुद ही बोल रहा हूँ—एक प्रकार की soliloquy (स्वगत आलाप) की तरह। अन्त में स्पष्ट सुना—ठाकुर कह रहे हैं।

"ठाकुर को सपने में प्रायः नहीं देखता। बीच बीच में स्वामीजी को, महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) को देखता हूँ। जब खूब सोच में पड़ जाता हूँ, तब तो (ठाकुर को) देख पाता हूँ। मंगलारती की बात सोच रहा था—कौन करेगा, किस तरह करेगा ? स्वप्न में ठाकुर ने बता दिया—'ज्यादा कुछ करने की जरूरत नहीं, एक अगरबत्ती जला देने से ही हो जायगा।'

"उस मूर्ति को स्पष्ट देख रहा हूँ—वही दक्षिणेश्वर का कमरा, खाट, सब कुछ। अपनी चीजों की व्यवस्था वे स्वयं कर लेते हैं। यही देखो न, आज मिठाई नहीं थी। सोचता था—क्या होगा, क्या होगा ? ऐसा तो कभी होता नहीं। सहसा देखता हूँ—कहीं से आ गयी ! सब अच्छी अच्छी मिठाई। ऐसा मैंने कई बार देखा है।"

०

कर्मयोग का वैशिष्टय

(गीताध्याय २, श्लोक ४०-४४)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

इह (इस निष्काम कर्मयोग में) अभिक्रमनाशः (आरब्ध कर्म का नाश) न अस्ति (नहीं है) प्रत्यवायः [च] [और] (उलटा परिणाम) न विद्यते (नहीं होता) अस्य धर्मस्य (इस धर्म का) स्वल्पम् (बहुत थोड़ा सा) अपि (भी) महतः भयात् (महान् भय से) त्रायते (रक्षा करता है) ।

"इस निष्काम कर्मयोग में आरम्भ किये कर्म का नाश नहीं है और कर्म का उलटा परिणाम भी नहीं होता । इस कर्मयोग-रूप धर्म का थोड़ासा अनुष्ठान भी बहुत बड़े भय से रक्षा कर देता है ।"

पिछले श्लोक की चर्चा में हमने देखा कि अब भगवान् कृष्ण कर्मयोग का पाठ प्रारम्भ कर रहे हैं। उससे पूर्व उन्होंने ज्ञान का उपदेश देते हुए कर्मयोग का आधार प्रस्तुत किया, अब उस ज्ञान की नींव पर कर्मयोग की इमारत खड़ी करते हैं । प्रस्तुत श्लोक में वे कर्मयोग का वैशिष्टय प्रदर्शित करते हैं । हमें सदैव यह स्मरण रखना चाहिए कि 'कर्मयोग' और 'कर्म' में बहुत बड़ा अन्तर है । तत्त्वतः 'कर्म' कहने से पूर्व मीमांसकों के 'कर्म' का अर्थबोध होता है, जिसे वैदिक कर्म भी कहा जाता है, जिसका तात्पर्य है यज्ञ-यागादि और जिसका लक्ष्य है

इहलोक में ऐश्वर्य-भोगप्राप्ति तथा परलोक में स्वर्ग-सुखास्वादन। 'कर्मयोग' कर्म के पीछे की वह बुद्धि है, जो हमें परमात्मा से संयुक्त करती है। निष्काम कर्मयोग में आत्म-समर्पण होता है, हम कर्म का कर्तृत्व और उसके फल का भोक्तृत्व अपने ऊपर न ले भगवान् को समर्पित करते हैं। इस प्रकार कर्मयोग हमारे लिए अहंनाश का और, फलस्वरूप, कर्मबन्धन को काटने का एक सक्षम साधन बन जाता है।

पर कर्म करते समय कुछ शंकाएँ उठा करती हैं। जैसे, मान लीजिए कि हमने कर्म प्रारम्भ किया और उसके समाप्त होने के पूर्व ही हमारी मृत्यु हो गयी, तो ऐसी दशा में वह अधूरा कर्म क्या निष्फल नहीं हो जायगा ? या फिर बीच में ही कुछ विघ्न आ गये, तो क्या उससे विपरीत परिणाम तो नहीं होगा ? अथवा कर्म थोड़ीसी मात्रा में ही हो पाया, बीच में बाधा पड़ी और फिर से उसे हमने हाथों में लिया, तो क्या उसका नैरन्तर्य खण्डित होने के कारण कर्मफल भी खण्डित नहीं हो जायगा ? ये तीनों शंकाएँ अर्जुन के मन म पैदा होती हैं और प्रस्तुत श्लोक में श्रीभगवान् उनका निराकरण करते हैं।

पहली शंका के उत्तर में वे कहते हैं कि निष्काम कर्मयोग में अभिक्रम का नाश नहीं होता। अभिक्रम वह है, जो आरम्भ कर दिया गया है। लौकिक और कामनापूर्वक किये जानेवाले जो कर्म हैं, वे यदि समाप्ति

से पूर्व ही छोड़ दिये जायँ, तो उनका कोई भी फल नहीं होता, वे कर्म नष्ट हो जाते हैं। जैसे, कृषि-कर्म को लें। हमने कृषिकार्य प्रारम्भ तो कर दिया, पर यदि अन्न के परिपक्व होने तक हमने जल का सिंचन उचित मात्रा में नहीं किया, या कीड़े-मकोड़ों से फसल की भलीभाँति रक्षा न की, तो कृषि का फल हमें प्राप्त नहीं होगा। हम भोजन के लिए रसोई बनाना शुरू तो करते हैं, पर यदि रसोई को बीच में ही छोड़ दें, तो भोजन नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार जो वैदिक कर्म हैं, उनको प्रारम्भ करने के बाद यदि विधान के अनुसार उनकी समाप्ति तक हम उनमें लगे न रहें, तो उन कर्मों का कोई फल नहीं होगा। इन कर्मों का फल तभी प्राप्त होता है, जब प्रारम्भ से अन्त तक वे विधि-विधानपूर्वक अनुष्ठित हों। पर जो कर्मयोग है, बिना कामना के किया जानेवाला कर्म है, उसके सम्बन्ध में उपर्युक्त बात नहीं लागू होती। जितनी भी मात्रा में यह निष्काम कर्म किया जाय, उसका फल चित्तशुद्धि के रूप में हमें अवश्य प्राप्त होता है। हम पिछले प्रवचन में कह चुके हैं कि कर्मयोग हमारे चित्त को शुद्ध करता है। अतः उसका अनुष्ठान जितनी मात्रा में हो, वह व्यर्थ नहीं होता, वह उतनी मात्रा में हमारे चित्त को शुद्ध कर ही देता है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को आश्वस्त करते हुए कहते हैं––'इह अभिक्रमनाशः न अस्ति'––'इस (निष्काम कर्मयोग) में आरब्ध किये हुए कर्म का नाश नहीं है।'

अर्जुन की दूसरी शंका विघ्न के सम्बन्ध में है। वैदिक काम्य कर्मों में प्रत्यवाय का बड़ा डर रहता है। 'प्रत्यवाय' उस पाप या हानि या विपरीत परिणाम को कहते हैं, जो कर्म के विगुण होने से उत्पन्न होता है। यदि कर्म में बीच में कोई बाधा आ गयी और कर्म विधान के अनुसार पूरा नहीं हुआ, तो उसका फल मिलना तो दूर रहा, उलटा पाप हो जाता है, जिससे विपरीत फल मिलने की सम्भावना हो जाती है। धर्मग्रन्थों में इसके अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। कथा आती है कि त्वष्टा ने इन्द्र को मारने के लिए एक पुत्र पैदा करने की कामना से यज्ञ किया। उस यज्ञ में 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इस कल्पित मंत्र में स्वर का व्यतिक्रम हो गया, इसलिए यज्ञ का फल उल्टा हो गया। फलस्वरूप जो पुत्र हुआ, वह वृत्र ही इन्द्र के हाथों मारा गया। तो, वैदिक कर्मों में इस प्रकार की यदि विगुणता पैदा हो जाय, तो ऐसा प्रत्यवाय जन्म लेता है। इसको टाला नहीं जा सकता। इसलिए वैदिक कर्मों में बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। पर निष्काम कर्मयोग में इस प्रत्यवाय का भय नहीं रहता। पाप वहीं होता है, जहाँ राग-द्वेष के सम्बन्ध होते हैं। पर जो मन अपने को कामना से रहित करना चाहता है, वह स्वाभाविक ही राग-द्वेष का परित्याग करता है और इसलिए पाप से युक्त नहीं होता। यही कारण है कि कर्मयोग में कहीं पर विधान के अनुसार यदि न भी हुआ, तो उसका उल्टा परिणाम नहीं हो पाता। कर्मयोग

का अनुष्ठान हम केवल चित्तशुद्धि का उद्देश्य लेकर करते हैं, इसलिए वह जितनी मात्रा में किया जाय, उतनी मात्रा में चित्त को शुद्ध करता है। लौकिक जीवन में भी देखा जाता है कि यदि दवा में किसी प्रकार की त्रुटि हो गयी, तो उससे रोगी का अच्छा होना तो दूर, हानि की सम्भावना बनी रहती है। वैदिक कर्म औषध के समान हैं, अतः अत्यन्त सावधानीपूर्वक उनका अनुष्ठान करना पड़ता है।

अर्जुन की तीसरी शंका कर्म के खण्डित होने के कारण कर्मफल के भी खण्डित हो जाने सम्बन्धी है। हम कर्म कर रहे हैं, बीच में विघ्न उपस्थित हुआ और हमने उसे छोड़ दिया। या हमारी मृत्यु ही हो गयी और हम कर्म का थोड़ासा ही अनुष्ठान कर पाये। ऐसी दशा में क्या कर्मफल नष्ट नहीं होगा? भगवान् कृष्ण इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'—'इस निष्काम कर्मयोगरूप धर्म का अति अल्प अनुष्ठान भी महान् भय से रक्षा करता है।' वैदिक कर्म यदि खण्डित हुए, तो उनका फल नष्ट हो जाता है। फिर, ऐसे काम्य कर्मों में कर्मफल का तारतम्य भी रहता है। कोई यदि इष्टि मात्र करे, तो उसे स्वर्ग में सामान्य सुख मिलेगा, और वह भी अल्प काल के लिए। और यदि कोई सोमयाग करे, या उसमें भी अश्वमेध आदि बड़े यज्ञों का अनुष्ठान करे, तो उसे बड़ा स्वर्ग मिलेगा तथा दीर्घकाल तक वहाँ का सुखभोग प्राप्त होगा। इस प्रकार ये वैदिक काम्य कर्म अपनी अल्पाधिक मात्रा के

अनुसार कर्ता को अल्पाधिक मात्रा में फल प्रदान करते हैं। और वह भी तभी करते हैं, जब ये कर्म समुचित रूप से पूरी तरह अनुष्ठित होते हैं। यदि बीच में बाधा आयी और कर्म का समापन न हो पाया, तो ऐसा नहीं होता कि जितनी मात्रा में कर्म किया गया, फल तदनुरूप मात्रा में प्राप्त हो जाय, बल्कि फल एकबारगी नष्ट हो जाता है। किसी ने दीर्घकालव्यापी अश्वमेध यज्ञ किया और अन्त अन्त में कोई बाधा आ गयी, तो उसका समूचा फल ही एकदम नष्ट हो जाता है। किन्तु निष्काम कर्म-योग के साथ ऐसी बात नहीं। वह जितनी मात्रा में सम्पन्न हो, चित्तशुद्धिरूप अपना फल उतनी मात्रा में दे ही देता है। मृत्यु भी इस निष्काम कर्मयोग के फल को नष्ट नहीं कर पाती। जैसे, कोई मनुष्य आज सायंकाल तक एक कार्य करता है, रात्रि में सो जाता है, और जब कल उठता है, तो आज के अधूरे कार्य को लेकर पूरा करने के लिए सचेष्ट होता है, उसका अधूरा कार्य नष्ट नहीं होता, दूसरे दिन सुबह उठकर उसी को ले आगे बढ़ाता है, वैसे ही यह निष्काम कर्मयोगरूप धर्म है। मनुष्य इस धर्म का पालन करते हुए अचानक काल-कवलित हो भी गया, तो इससे वह धर्म नष्ट नहीं होगा। जब वह मृत्युरूपी महानिद्रा से जागेगा, अर्थात् फिर से जन्म ग्रहण करेगा, तब उस धर्म की छूटी हुई कड़ी को पकड़कर उसे आगे बढ़ाएगा। यही कर्मयोग की विशिष्टता है। उसका स्वल्प मात्रा में अनुष्ठान भी महान् भय से रक्षा करता

है। सत्कर्म का, धर्म का थोड़ासा पालन भी बड़ा लाभदायक होता है। इस प्रकार अर्जुन के मन में यह जो भय था कि यदि मैं श्रीकृष्ण के निर्देशानुसार युद्ध करूँ और कहीं मारा जाऊँ, तो जो कुछ मैंने धर्म का पालन किया, वह क्या नष्ट नहीं हो जायगा, उस भय को भगवान् इस तर्क के द्वारा दूर करने का प्रयास करते हैं।

इस पर हमारे मन में प्रश्न उठता है कि अच्छा, कर्मयोग का वैशिष्टच तो समझ लिया, पर इसका साधन तो बहुत से उपायों की अपेक्षा रखता होगा? हम इतने उपाय कैसे कर सकते हैं? हम अपने कर्मबहुल जीवन में, जहाँ हमें सतत व्यस्त रहना पड़ता है, इस कर्मयोग की साधनाओं का अनुष्ठान कैसे कर सकते हैं? इसके उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं कि बहुत से साधनों की आवश्यकता नहीं; जो आवश्यक है, वह है व्यवसायात्मिका बुद्धि—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥४१॥

कुरुनन्दन (हे अर्जुन) इह (इसमें) [निष्काम कर्मयोग में] व्यवसायात्मिका (सुनिश्चित रूप) बुद्धिः (ज्ञान) एका एव (एक ही है) अव्यवसायिनाम् (अस्थिर मतिवालों की) बुद्धयः (बुद्धियाँ) हि (वास्तव में) बहुशाखाः (अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त) च (तथा) अनन्ताः (अनन्त प्रकार की हैं)।

"हे अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में सुनिश्चित रूप ज्ञान एक ही है। पर जो अस्थिर मतिवाले हैं, उनकी बुद्धि अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त तथा अनन्त प्रकार की है।"

कर्मयोग में सफलता प्राप्त करने के लिए एक ही

बात करने की आवश्यकता होती है और वह है बुद्धि को व्यवसायात्मिका बनाना। 'व्यवसाय' का अर्थ 'प्रयत्न, उद्योग, उत्साह, पुनः पुनः अथक प्रयत्न करने का स्वभाव, निश्चय, कर्मकुशलता' इत्यादि है। जिस बुद्धि में ये स्वभाव-धर्म होंगे, उसे 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' कहा जायगा। प्रस्तुत श्लोक में व्यवसायात्मिका बुद्धि से तात्पर्य है—लक्ष्य को सुनिश्चित कर लेना। जब तक मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्य का निश्चय नहीं कर पाता, तब तक उसकी बुद्धि भ्रमित होती रहती है। वह सुख को ही लक्ष्य मान बैठता है और इसलिए सुख की कामनाओं से उद्वेलित होता रहता है। उसके चित्त में तरह तरह की वासनाएँ उठती रहती हैं, जिसका सुन्दर चित्रण अगले श्लोकों में किया गया है। वासनाओं से उद्वेलित बुद्धि को अव्यवसायात्मिक कहते हैं, और जो ऐसी बुद्धि से युक्त होते हैं, वे अव्यवसायी हैं। ऐसे लोग अस्थिरमति होते हैं, उनका निश्चय हरदम बदलता रहता है। इसी-लिए विवेच्य श्लोक के उत्तरार्ध में 'बुद्धि' शब्द का अनेक-वचन में प्रयोग किया गया है। ऐसी बुद्धि की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं और एक ही शाखा कई उप-शाखाओं में बँट जाती है। पर जो व्यवसायात्मिका बुद्धि है, उसने अपना लक्ष्य सुनिश्चित कर लिया होता है—वह है आत्मज्ञान, ब्रह्म और आत्मा की अभिन्नता की अनुभूति। उसकी सारी क्रियाएँ इसी एक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए होती हैं। कर्मयोगी अपनी हर क्रिया के

माध्यम से उस परमात्म-तत्त्व को ही प्राप्त करना चाहता है। उसकी बुद्धि एक होती है। ऐसी बुद्धि की शाखा-प्रशाखाएँ नहीं होतीं। इसीलिए प्रस्तुत श्लोक के पूर्वार्ध में 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग एकवचन में हुआ है।

'बुद्धि' शब्द के कई अर्थ होते हैं। कभी वह मन के अर्थ में प्रयुक्त होता है, तो कभी अहंकार के और कभी चित्त के। वह कभी कभी ज्ञान, स्वभाव या वासना के लिए भी प्रयुक्त होता है। विवेच्य श्लोक में उसका उपयोग दो बार हुआ है--पूर्वार्ध में एकवचन में और उत्तरार्ध में अनेकवचन में। पूर्वार्ध में उसका एक विशेषण है--'व्यवसायात्मिका', जिससे विशेषित होकर उसका अर्थ 'निश्चयात्मक ज्ञान' ही होता है। कर्मयोगी को बहुत से साधनों का प्रयोजन नहीं होता। यदि वह निश्चय कर ले कि ईश्वर को पाना ही जीवन का लक्ष्य है तथा जीवन की हर क्रिया उस ईश्वर की पूजा ही है, तो वह अपने कर्मों के माध्यम से, अपनी एकनिष्ठ बुद्धि के बल पर, उस परमतत्त्व को पा लेता है। गीता के अठारहवें अध्याय में (४५-४६) हम पढ़ते हैं--

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

--'अपने अपने कर्मों में लगे रहकर मनुष्य सर्वोच्च सिद्धि कैसे प्राप्त करता है, वह उपाय सुन। जिस

परमात्मा से ये समस्त प्राणी और प्रवृत्तियाँ निर्गत हुई हैं और जिसके द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त है, उस परमात्मा की अपने कर्मों द्वारा अर्चना करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है।'

विवेच्य श्लोक के उत्तरार्ध में 'बुद्धि' शब्द अनेक-वचन में प्रयुक्त हुआ है और वहाँ उसका 'व्यवसाया-त्मिक' विशेषण भी नहीं है। अतः उसका अर्थ वासना ही लेना समीचीन होगा। बुद्धि का सामान्य कार्य अध्यवसाय माना गया है। पर इस अध्यवसाय के दो भेद होते हैं-- व्यवसाय और अव्यवसाय। शंकराचार्य प्रस्तुत श्लोक के भाष्य में व्यवसायात्मिका बुद्धि की व्याख्या करते हुए कहते हैं-- 'व्यवसायात्मिका निश्चय-स्वभावा बुद्धिः इतरविपरीतबुद्धिशाखाभेदस्य बाधिका सम्यक्प्रमाणजनितत्वात्'-- अर्थात्, सम्यक् प्रमाणों से सदसत्-विचार के द्वारा जिस बुद्धि में विवेक उपजा है और फलस्वरूप जो अन्य विपरीत बुद्धियों के शाखाभेदों की बाधक है, वह व्यवसायात्मिका है। ऐसी जो प्रमाण-जनित विवेक-बुद्धि है, वह अनन्त भेदोंवाली बुद्धियों का अपने बल के द्वारा अन्त कर देती है, फलतः संसार का भी अन्त हो जाता है-- 'प्रमाणजनितविवेकबुद्धिनिमित्त-वशात् च उपरतासु अनन्तभेदबुद्धिषु संसारः अपि उपरमते'। तो, 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' से तात्पर्य हुआ वह एकाग्र बुद्धि, जो कार्य-अकार्य का निश्चय करती है। ऐसी बुद्धि जिनकी है, वे ही कर्मयोग के अधिकारी हैं, या यों कह

लें कि कर्मयोग के लिए बुद्धि को इस प्रकार बनाना ही साधना है।

विभिन्न आचार्यों ने अलग अलग ढंग से इस व्यवसायात्मिका बुद्धि की व्याख्या की है। श्रीरामानुजाचार्य के मत से मुमुक्षु पुरुषों की बुद्धि को व्यवसायात्मिका कहते हैं और जो कामनापरक बुद्धियाँ हैं, वे अव्यवसायात्मिका हैं। भक्तिमार्ग के आचार्यों के अनुसार भगवदाज्ञानुसार कर्तव्य-निश्चय ही व्यवसायात्मिका बुद्धि कहलाता है। पर इन सभी आचार्यों को इसमें तो एकमत होना ही होगा कि जो बुद्धि संकल्प, काम, आसक्ति आदि दोषों से अछूती रहती है और मन पर अनुग्रह करती है, वह व्यवसायात्मिका है। मन का धर्म है संकल्प-विकल्प, इसलिए वह नाना प्रकार की कामनाओं से घिरा रहता है। बुद्धि का उचित धर्म है मन पर शासन करना। तो, जो बुद्धि मन के फन्दे में नहीं पड़ती, बल्कि जो मन को अपने नियंत्रण में रखती है तथा अपना आकर्षण-केन्द्र आत्मा को बनाती है, वह व्यवसायात्मिका है। किन्तु जो बुद्धि कामादि दोषों से दूषित मन के आकर्षण में पड़कर उसकी अनुगामिनी हो जाती है, वह अव्यवसायरूपा है। आत्मा को पहचानने का कार्य यह व्यवसायरूपा बुद्धि करती है, अव्यवसायरूपा नहीं। व्यवसायात्मिका बुद्धि एक अग्रवाली होती है, जबकि अव्यवसायात्मिका बुद्धि के कई अग्र होते हैं। इसीलिए विवेच्य श्लोक के उत्तरार्ध में कहा गया कि अव्यवसायी लोगों की बुद्धि अनेक शाखा-

प्रशाखावाली होती है, तथा एक ही शाखा के फिर अनन्त भद हुआ करते हैं। आचार्य शंकर इस स्थल पर भाष्य करते हुए लिखते हैं-- 'प्रतिशाखाभेदेन हि अनन्ता: च बुद्धय: अव्यवसायिनां प्रमाणजनितविवेकबुद्धि - रहितानाम्' -- 'जो प्रमाणजनित विवेक-बुद्धि से रहित अव्यवसायी जन हैं, उनकी बुद्धियाँ प्रति शाखा-भेद से अनन्त होती हैं।'

इसे समझाने के लिए एक उदाहरण लें। पिता ने अपने लड़के से कहा--यदि तुम अच्छे गुणों से परीक्षा में उत्तीर्ण होओ, तो तुम्हें विदेश की छात्रवृत्ति मिलवा दूँगा, जिससे तुम बाहर जाकर उच्च अध्ययन कर सकोगे। लड़का परीक्षा की तैयारी कर रहा है। परीक्षा करीब है। वह पढ़ने के लिए बैठा, तो चित्त एकाग्र नहीं हो पाता। कभी उसे सिनेमा की बात याद आती है, कभी खेल-कूद की, कभी कालेज की, तो कभी काफी-हाउस की। उसकी बुद्धि मानो कई शाखा-प्रशाखाओं में बँट गयी। वह पढ़ाई में मन को स्थिर नहीं कर पा रहा है। उसकी बुद्धि उसके मन पर शासन नहीं कर पा रही है और वह मन की अनुगामिनी बन गयी है। मन जैसा चाहता है, वैसा बुद्धि को नचा रहा है। जब पर्याप्त देर तक मन इधर-उधर भटकता रहा, तो उसे लगा कि अरे! मेरा सारा समय तो मन की इस व्यर्थ की उछल-कूद में चला गया और अब वह निश्चय कर मन को पढ़ाई में लगाने में सचेष्ट होता है। पर पल-

दोपल बीतते न बीतते मन फिर घूमना शुरू कर देता है-- "अहा ! विदेश की छात्रवृत्ति मिलेगी, क्या मजा आएगा। आक्सफोर्ड या कैम्ब्रिज में पढ़ूँगा, मौज रहेगी, नये नये मित्र बनेंगे, गर्ल-फ्रेन्ड्स बनेंगी, खूब सैर-सपाटे होंगे। अपना देश तो दकियानूसी है, समाज पुराणपन्थी है। बाहर तो यह सब बन्दिश ही न रहेगी। चार साल पलक मारते बीत जाएँगे। फिर वहीं अच्छी नौकर मिल जायगी। लम्बा वेतन मिलेगा। यदि देश लौटे, तो वहाँ भी बड़ी पूछ होगी, इज्जत रहेगी, दबदबा रहेगा। बड़े घर में शादी होगी। देश में ही बसना पड़ा, तो अच्छा खासा बँगला होगा। मोटरगाड़ियाँ होंगी। नौकर-चाकर होंगे।" आदि आदि। और उसका मन ऐसा भटकता भटकता भविष्य के सुनहले सपनों में डूब जाता है। फिर उसे खटका लगा। देखा कि आधा घण्टा बीत गया है, पर वह दो पंक्तियाँ भी पढ़ नहीं पाया है। उसे अपने ऊपर खीज आती है। वह बलपूर्वक अपने मन को पढ़ाई में लगाने की कोशिश करता है। मिनट-दोमिनट बीते न होंगे कि मन में डर की एक रेखा खिच जाता है। "कहीं अच्छा रिजल्ट न ला सका तो ? तब तो विदेश की छात्रवृत्ति न मिल पायगी। तब तो यहीं कोई नौकरी ढूँढ़नी पड़ेगी। नौकरी मिलेगी भी तो बहुत साधारण किस्म की। सड़ासा वेतन मिलेगा। उसमें क्या कर पाऊँगा ? अकेला अपना खर्च चलाना भी मुश्किल होगा। तब तो किसी मामूली घर में ही शादी होगी। जीवन

बोझ हो उठेगा।" आदि आदि। और ऐसा सोचते सोचते उसका मन हताशा से इतना घिर जाता है कि वह पढ़ाई से एकदम उचट जाता है। वह अपने मन की इस बोरियत को दूर करने तथा 'रिफ्रेश' होने के लिए 'पिक्चर' देखने का प्रोग्राम बना लेता है। यह उदाहरण प्रदर्शित करता है कि बुद्धि की मात्र एक शाखा कैसे अनन्त भेदों में बँट जाती है। यदि उस लड़के की बुद्धि व्यवसायात्मक होती, तो वह निश्चय कर लेता कि परीक्षा में अच्छी तरह उत्तीर्ण होना ही मेरा लक्ष्य है और इस प्रकार लक्ष्य को निश्चित कर उसकी प्राप्ति में अपनी सारी शक्ति के साथ जुट जाता।

यही तर्क साधना पर भी लागू होता है। साधन-पथ पर चलने में हमें तभी सफलता मिलती है, जब हम पहले लक्ष्य का निर्धारण कर लेते हैं और फिर उस लक्ष्य को पाने के लिए मन तथा बुद्धि की सारी चेष्टाओं को उसमें केन्द्रित करते हैं। कर्मयोग में सिद्धि के लिए ईश्वरनिष्ठ एकाग्र बुद्धि सम्पादित करना अत्यावश्यक है। जिनमें ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं है, वे तरह तरह से भ्रमित होकर अपने को लक्ष्य से बहुत दूर कर लेते हैं। ऐसे लोगों का चित्रण अगले तीन श्लोकों में किया गया है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।। ४४ ।।

पार्थ (हे पार्थ) अविपश्चितः (अविवेकी जन) वेदवादरताः (वेदोक्त काम्य कर्मों की प्रशंसा में रत रहनेवाले) अन्यत् (स्वर्ग-जनक कर्म के अतिरिक्त और कुछ) न अस्ति (नहीं है) इति (ऐसे) वादिनः (मतवादी) कामात्मानः (कामना से भरे हुए) स्वर्गपराः (स्वर्ग-लाभ को ही परम पुरुषार्थ माननेवाले) जन्मकर्मफलप्रदाम् (जन्म-रूप कर्मफल प्रदान करनेवाली) भोगैश्वर्यगतिं प्रति (सुख-भोग और ऐश्वर्य-लाभ से ही सम्बन्धित) क्रियाविशेषबहुलां (अनेक प्रकार की क्रियाओं की अपेक्षा करने-वाले) याम् (जो) इमां (यह) पुष्पितां (सुनने में सुन्दर) वाचं (वचन) प्रवदन्ति (कहते हैं) तया (उस वचन से) अपहृतचेतसाम् (जिनका चित्त हर लिया गया है) भोगैश्वर्यप्रसक्तानां (ऐसे भोग और ऐश्वर्य में आसक्त लोगों की) व्यवसायात्मिका बुद्धिः (कार्य-अकार्य का निश्चय करनेवाली बुद्धि) समाधौ (चित्त में एकाग्र) न (नहीं) विधीयते (हो पाती)।

"हे पार्थ ! जो अविवेकी जन हैं, वे केवल वेदोक्त काम्य कर्मों की प्रशंसा में रत रहते हैं। वे इस मत के पोषक हैं कि स्वर्ग प्रदान करनेवाले कर्मों के अतिरिक्त जीवन में और कुछ भी कर्तव्य नहीं है। वे कामना से भरे हुए तथा स्वर्ग-लाभ को ही परम पुरुषार्थ माननेवाले लोग सदैव ऐसी वाणी बोलते रहते हैं, जो सुनने में बड़ी आकर्षक और लुभावनी लगती है तथा जो अनेक प्रकार की ऐसी क्रियाओं का ही वर्णन करती रहती है, जिनका उद्देश्य जन्म-रूप फल देना तथा सुख-भोग और ऐश्वर्य प्रदान करना होता है। उस वाणी से जिनका चित्त हर लिया जाता है, ऐसे भोग और ऐश्वर्य में आसक्त लोगों की कार्य-अकार्य का निश्चय करनेवाली बुद्धि चित्त में एकाग्र नहीं हो पाती, अर्थात् ऐसे लोगों को व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं प्राप्त होती।"

'अविपश्चित्' का अर्थ होता है 'न विशेषेण पश्यन् चिन्तयते'—'जो न किसी विषय को विशेष दृष्टि से देखता है और न देखे हुए विषय का विशेष विचार करता है'। विपश्चित् वह है, जो किसी विषय को विशेष रूप से देखता है और उस पर विशेष रूप से विचार करता है। अतः वह विवेकी है, ज्ञानी है और अविपश्चित् है अविवेकी, अज्ञानी। 'वेदवादरत' का तात्पर्य है 'वेद के फलवाद या अर्थवाद में रत रहना'। वेदों में यज्ञादि कर्मों का वर्णन है, जिनका फल विभिन्न स्वर्गों की प्राप्ति बताया गया है। ये अविवेकी जन इन्हीं चर्चाओं में रत रहते हैं कि किन कर्मों से किन फलों की प्राप्ति होगी। ये चर्चाएँ पुष्प के समान सुन्दर और लुभावनी मालूम पड़ती हैं, क्योंकि इनमें केवल भोग और ऐश्वर्य का ही विचार होता है। इसीलिए ऐसी चर्चा का विशेषण यहाँ 'पुष्पितां' लगाया गया। ये लोग तो कामना में अन्धे हुए यहाँ तक कह देते हैं कि स्वर्ग प्रदान करनेवाले, ऐश्वर्य और सुख-भोग देनेवाले इन कर्मों को छोड़कर अन्य कुछ भी करणीय नहीं है। इन लोगों का अन्तःकरण असंख्य कामनाओं से भरा रहता है, इसलिए ये 'कामात्मा' हैं। इनकी दृष्टि में स्वर्ग ही परम पुरुषार्थ है। इससे ऊपर भी मनुष्य-जीवन का कोई फल है इस ओर इनकी दृष्टि जाती तक नहीं। स्वर्ग प्राप्त कर लेना ही वे मनुष्य-जीवन का अन्तिम फल मानते हैं, इसलिए वे 'स्वर्गपर' हैं। ऐसे लोग आज अमुक हेतु की सिद्धि के

लिए, तो कल और किसी हेतु से स्वार्थसिद्धि के लिए सदैव याग-यज्ञों में लगे रहते हैं। उनकी वाणी में कर्मों का ही विस्तार बहुत अधिक रहता है। वे जन्म भर क्रिया करते रहना ही सिखाया करते हैं। इसलिए उनकी वाणी 'क्रियाविशेषवहुल' है। इन क्रियाओं का फल बार बार संसार में जन्म लेना ही होता है। जन्म-मरण प्रवाह से या कर्म-बन्धन से छुटकारा पाने का विचार तक उनके मन में कभी नहीं उठता। इसीलिए उनकी वाणी को 'जन्मकर्मफलप्रदाम' विशेषण से युक्त किया गया। उनकी वाणी का अन्तिम लक्ष्य भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति ही है--चाहे मरकर स्वर्ग में हो अथवा जन्म लेकर इस संसार में। भोग और ऐश्वर्य की चकाचौंध उन्हें अन्धा बना देती है। इस प्रकार जिन लोगों का अन्तःकरण निरन्तर भोग और ऐश्वर्य में रमा हुआ है और जिनका मन उनकी प्रशंसा के वाक्यों में फँसा हुआ है, उनकी बुद्धि भला किस प्रकार व्यवसायात्मक हो सकती है ?

अर्जुन भी मन की इस चंचलता से घिर गया था। उसकी बुद्धि निश्चय करने में समर्थ नहीं हो पा रही थी। 'युद्ध करूँ या सब कुछ छोड़-छाड़कर भिक्षा की वृत्ति अंगीकार करूँ' ऐसी अनेक चंचल वासनाओं से उसका अन्तःकरण भर गया था। अर्जुन को वासनाओं के इस व्यामोह से बचाने के लिए श्रीभगवान् उसे कामनायुक्त कर्मों के त्याग का उपदेश देते हैं और निष्काम कर्मयोग का पाठ पढ़ाते हैं।

प्रस्तुत तीन श्लोकों में वेदों के काम्य कर्मों पर प्रहार किया गया है। कई लोग उपर्युक्त श्लोकों के आधार पर गीता को वेदविरोधी मानते हैं। पर यह दोषारोपण उचित नहीं है, क्योंकि यह प्रहार मूलतः कामना पर है। गीता वेद के उन अंशों पर प्रहार करती है, जहाँ कर्म की प्रेरणा के रूप में फल की कामना स्वीकार की गयी है। वैदिक काम्य कर्मों पर ऐसा प्रहार तो स्वयं वेद के अन्तर्गत कुछ उपनिषद् भी करते हैं।

वेदों को प्रमुखतः दो भागों में बाँटा गया है—कर्म-काण्ड और ज्ञानकाण्ड। इन दोनों के पुनः दो दो विभाग किये गये हैं—कर्मकाण्ड के संहिता और ब्राह्मण, तथा ज्ञानकाण्ड के आरण्यक और उपनिषद्। कर्मकाण्ड को पूर्वमीमांसा कहा गया है तथा ज्ञानकाण्ड को उत्तर-मीमांसा। उत्तरमीमांसा वेदान्त के नाम से भी सुपरिचित है। पूर्वमीमांसा यज्ञ-यागादि विभिन्न कर्मों का विधान करती है, जिनका लक्ष्य इहलोक में सुख-भोग और ऐश्वर्य-प्राप्ति है तथा परलोक में स्वर्ग-लाभ। कर्मकाण्ड इससे उच्चतर या भिन्न अन्य कोई लक्ष्य स्वीकार नहीं करता। ज्ञानकाण्ड का लक्ष्य है सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेना; जो सत्य 'ब्रह्म' के रूप से इस अनन्त विश्व-ब्रह्माण्ड में व्यापक है तथा जो 'आत्मा' के रूप से इस देह के भीतर बद्ध है, उन दोनों के ऐक्य की अनुभूति कर लेना। सत्योपलब्धि या आत्म-साक्षात्कार के लिए बुद्धि का व्यवसायात्मिका होना अनिवार्य है। कर्मकाण्ड तरह तरह

के फलभोग का लालच देकर बुद्धि को चंचल और अव्यवसायात्मक बना देता है। इसीलिए वेद का ज्ञान-काण्ड उसके कर्मकाण्ड की स्थान स्थान पर तीव्र शब्दों में भर्त्सना करता है। ऋग्वेद में ही हम पढ़ते हैं——

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति
य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥१/१६४/३९

——'वेदमंत्रों के अक्षरों में सब देवों की शक्तियाँ निवास करती हैं। जो इस ज्ञान को अनुभव से नहीं जानता, उसे वेदमंत्रों से क्या लाभ होगा? पर जो इस सत्य ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, वही उच्च स्थान पर विराजता है।'

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत
त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ १०/७१/४

——'कई लोग ऐसे होते हैं, जो ग्रन्थ को देखते तो हैं, पर न देखने के समान ही उनका देखना होता है। कई लोग ग्रन्थपाठ को सुनते हैं, पर उनका श्रवण न श्रवण करने के समान ही व्यर्थ होता है। (किन्तु जो लोग ग्रन्थ को देखकर अथवा सुनकर उसका तात्पर्य अपनाते हैं) उनके लिए उस विद्या से ऐसा अद्भुत सुख प्राप्त होता है, जैसा कि गृहस्थ को उत्तम पतिव्रता स्त्री से प्राप्त होता है।'

उपर्युक्त दो मंत्रों में वेद ने उन लोगों की निन्दा

का है, जो केवल शब्दों में रमे रहते हैं, जिन्हें गीता ने 'वेदवादरत' कहकर सम्बोधित किया है। मुण्डकोपनिषद् में हम वैदिक काम्य कर्मों को सर्वस्व माननेवालों पर तीखा प्रहार पाते हैं--

प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥१/२/७

--'ये यज्ञरूप नौकाएँ जीर्ण-शीर्ण और नाशवान हैं, जिनमें अठारह व्यक्ति (सोलह ऋत्विज, एक यजमान और एक यजमान-पत्नी) बैठकर निकृष्ट कर्म का सम्पादन करते हैं। जो ऐसे यज्ञादि कर्मों को श्रेय अर्थात् परम पुरुषार्थ मानते हैं, वे मूढ़ हैं और सर्वदा जन्म-मृत्यु के प्रवाह में पड़े रहते हैं।'

जो लोग श्रौत और स्मार्त कर्मों को ही श्रेष्ठ कर्तव्य मानते हैं, उन्हें 'प्रमूढ़' की उपाधि देते हुए मुण्डकोपनिषद् कहता है—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढ़ा।
नाकस्य पृष्ठे सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥१/२/१०

—'इष्ट (यज्ञ-यागादि श्रौत कर्म) और पूर्त (वापी, कूप, धर्मशाला आदि स्मार्त कर्म) को ही सबसे श्रेष्ठ माननेवाले महामूढ़ किसी अन्य वस्तु को श्रेयस्कर नहीं

समझते । वे स्वर्गलोक के उच्च स्थान में अपने कर्मफलों का अनुभव कर इस (मनुष्य) लोक अथवा इससे भी निकृष्ट लोक में प्रवेश करते हैं ।'

इस प्रकार स्वयं वेदभाग में ही वेदोक्त कर्मों का अस्थायी फल बतलाते हुए उनकी निन्दा की गयी है । गीता तो उपनिषदों का सार है, अतः यदि गीता में भी काम्य कर्मों की निन्दा हो, तो उसे वेदविरोधी नहीं समझना चाहिए । यह इसलिए किया गया है, जिससे मनुष्य 'अल्प' सुख के फेर में पड़कर 'भूमा' से वंचित न हो जाय । जैसे गुरु जब किसी शिष्य को ताड़ना देता है, तो वह शिष्यविरोधी नहीं हो जाता, वैसे ही जब शास्त्र-ग्रन्थ फलकामनायुक्त वैदिक कर्मों की निन्दा करते हैं, तो वे वेदविरोधी नहीं हो जाते । इस निन्दा का एकमात्र अभिप्राय काम्य कर्मों से ऊपर उठना है । मानव-मन के विकास के अलग अलग सोपान हैं । वासनायुक्त शास्त्र-विहीन कर्म सबसे नीचे की सीढ़ी है । ऐसा मन निरंकुश होता है। इसे अंकुश में लाने के लिए शास्त्रविहित कर्मों की योजना बनायी गयी और कहा गया कि तुम भोग-सुख ही तो चाहते हो; लो, शास्त्र का आधार लेकर अपनी वासनाओं की पूर्ति करो । यह दूसरी सीढ़ी है । इसके ऊपर की सीढ़ी वह है, जहाँ हम यही सब शास्त्रीय कर्म तो करते हैं, पर फल के भोग के लिए नहीं बल्कि ईश्वर-प्रीत्यर्थ । इससे चित्त शुद्ध होता है और हमारी बुद्धि व्यवसायात्मक बनती है । ये सब सोपान अधिकारी-भेद से आवश्यक

हुआ करते हैं। जो बेचारा निष्काम कर्म की धारणा नहीं कर सकता, वह फिर शास्त्रयुक्त काम्य कर्म ही करे, यही वेद की मातृदृष्टि है। जैसे माता अपने बच्चों की आवश्यकता को देख किसी के लिए खिचड़ी, दलिया या अधिक पौष्टिक भोजन की व्यवस्था करती है, उसी प्रकार वेदमाता भी अपनी सन्तानों की प्रवृत्ति और अधिकार देख उनके लिए यथोचित व्यवस्था करती है। वेदोक्त काम्य कर्मों के सम्पादन द्वारा जब मनुष्य देख लेता है कि कामनाओं की पूर्ति कामनाओं के उपभोग से नहीं होती, तब वह कामनाओं के जाल से निकलने के लिए छटपटाता है। तब वह राजा ययाति के समान ही अनुभव करता है कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्ण वर्त्मेव भूय एवापि वर्धते॥
यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात् तृष्णां परित्यजेत्॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगः तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥

—'कामनाओं के उपभोग द्वारा कामनाएँ शान्त नहीं होतीं, बल्कि जैसे आग में घी डालने से आग और भी धधक उठती है, वैसे ही कामनाओं के भोग से कामनाएँ और भी तीव्र हो जाती हैं। सारी पृथ्वी में जितना भी अनाज है, सोना और हीरे-मोती हैं, पशुधन है, स्त्रियाँ हैं, वे सब मिलकर भी एक मनुष्य की वासना को तृप्त करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं! अतः तृष्णा का त्याग

करना चाहिए। यह तृष्णा एक प्राणान्तक रोग है। मनुष्य भले जीर्ण हो जाय, पर वह जीर्ण नहीं होती। दुर्मतियों के लिए इसका त्याग बड़ा कठिन है। किन्तु सुखी तो वही है, जो इस तृष्णा का त्याग करता है।'

जिस मनुष्य के हृदय में वासनाओं के प्रति ऐसी वितृष्णा जाग गयी, वह तीसरे सोपान पर पैर रखने का अधिकारी होता है। ऐसे मनुष्य को सम्बोधित करते हुए मुण्डकोपनिषद् कहता है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ १/२/१२

—हे ब्रह्म की खोज करनेवाले जिज्ञासु! जो लोक कर्मों के द्वारा प्राप्त होते हैं, एक बार उनकी परीक्षा तो करके देखो। विचार तो करो कि क्या कृत (सीमित कर्म) के द्वारा भला अकृत (असीम और नित्य पदार्थ) कभी प्राप्त हो सकता है? और ऐसा विचार कर (कर्म से प्राप्त होनेवाले उन लोकों की) कामनाओं से मुक्त हो जाओ। उस अकृत (चिरन्तन सत्य) को यदि जानना चाहो, तो हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास जाओ।

ठीक ऐसा ही आह्वान भगवान् कृष्ण अर्जुन को देते हैं, जिस पर चर्चा हम अगले प्रवचन में करेंगे।

●

सान्त्वना

स्वामी रामकृष्णानन्द

(गतांक से आगे)

(प्रस्तुत लेख श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास द्वारा प्रकाशित पुस्तिका CONSOLATIONS का अनुवाद है। इसमें श्रीरामकृष्ण देव के उन अन्यतम संन्यासी-शिष्य स्वामी रामकृष्णानन्दजी के प्रेरक पत्रांशों का संग्रह है, जिनके सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "शशि मठ का मुख्य आधारस्तम्भ था। उसके बिना मठ में जीवन असम्भव होता। वह मठ की माता था।"--स.)

यदि तुम बुरी आदत को छोड़ना चाहो, तो तुम्हें उसके विपरीत अच्छी आदत का विकास करना होगा, और इसके लिए तुममें वहुत ही अधिक रजस् या कर्मठता की आवश्यकता है। जैसा कि भगवान् गीता में कहते हैं--

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

—'मेरी इस गुणमयी दैवी माया को पार करना वास्तव में वड़ा कठिन है, किन्तु जो मेरी शरण में आते हैं, वे इसे पार कर जाते हैं।'

माया ईश्वर की शक्ति है। ईश्वर तथा उनकी शक्ति में कोई भेद नहीं है। जैसे बिना मिठास के शक्कर की कल्पना नहीं की जा सकती, और बिना धवलता के दूध की, उसी प्रकार ईश्वर की शक्ति को छोड़ ईश्वर की कल्पना नहीं की जा सकती। हम किसी अधिकारहीन व्यक्ति से प्रार्थना नहीं करते, क्योंकि हम जानते हैं कि वह निरर्थक होगी। ईश्वर सर्वशक्तिमान हैं, इसलिए हम उनसे प्रार्थना करते हैं। इसीलिए जो भी ईश्वर से प्रार्थना

करता है, वह शक्ति की ही पूजा करता है। संसार का प्रत्येक व्यक्ति शाक्त है, क्योंकि ऐसा कौन है, जो शक्ति की पूजा नहीं करता ?

ईश्वर बादलों के ऊपर कहीं नहीं रहते। वे प्रत्येक प्राणी के हृदय में वास करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं--ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति--'हे अर्जुन, ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में निवास करते हैं।'

सामान्य प्राणी इसे नहीं जानते। ईश्वर हमारे सामने अज्ञानी के रूप में, अभावग्रस्त के रूप में, रोगी के रूप में, अनाथ के रूप में, भूखे के रूप में आते हैं, जिससे कि इन रूपों में उनकी सेवा कर हम अपने को उन्नत कर सकें। केवल कर्म करने में हमारा अधिकार है, उसके फल में नहीं। परिणाम हमारे हाथों में नहीं है। अतः दूसरों का कल्याण करने की भावना की अपेक्षा सदैव अपने ही कल्याण के लिए हम अधिक सचेष्ट हों, क्योंकि वे सब तो ईश्वर के ही हैं तथा जैसे भी हैं, उन्हें ईश्वर ही बनाते हैं। हम न तो ईश्वर को सुधार सकते हैं, और न ही उनकी कार्यपद्धति में कोई दोष देख सकते हैं। वह महान् मूर्खता होगी। हम दूसरों की सेवा द्वारा अपना विस्तार कर अपने आप की ही सेवा करते हैं।

एक बच्चा अपने माता या पिता से जो उसे चाहिए क्या नहीं माँगता, यह जानते हुए कि उसकी माँग अवश्य पूरी होगी ? ठीक उसी प्रकार तुम भी अपने ईश्वर से उस सबके लिए प्रार्थना करो, जिसकी तुम्हें ईश्वर-साक्षात्कार

के लिए आवश्यकता है। तुम ईश्वर की सन्तान क्यों होना चाहते हो ? जगज्ज्वाला से छूटने के लिए ही तो ? अतः भक्ति और ज्ञान में अन्तर कहाँ है ?

मैं तुम्हें यह बता दूँ कि शान्ति मनुष्य की अपनी मानसिक सम्पत्ति है। इसलिए तुम अपनी गृहस्थी के मामलों या सामाजिक मामलों को कभी भी अपने मन की पवित्र सीमा में प्रवेश न करने दो, जहाँ तुम पर शान्ति और आनन्द की वर्षा करते हुए परमशिव ही सर्वोच्च शासन करें।

निस्सन्देह मनुष्य जब अपने सर्वाधिक अपराजेय शत्रु—अहंकार—से मुक्त हो, तभी सम्पूर्ण आत्मसमर्पण आ सकता है। यह भाव कि मैं अमुक अमुक हूँ, हमारे बार बार जन्म और मरण का कारण है। जितनी अधिक मात्रा में तुम अपने इस अहंकार से छूट सकोगे, उतनी ही अधिक मात्रा में तुम अपने आध्यात्मिक स्वरूप की अनुभूति करने में समर्थ हो सकोगे, जो कि अभी इस अहंकार से ढका हुआ है। यह व्यक्तिवाचक सर्वनाम 'मैं' ही हमारे सब दुःखों की जड़ है। अतः किसी भी प्रकार इस अहंकार से छूटना ही हमारा सबसे पहला कर्त्तव्य है। यह कार्य महापुरुषों की सेवा के द्वारा, निष्काम कर्म के द्वारा, ध्यान या विवेक के द्वारा सम्पादित किया जा सकता है। इनमें से प्रथम सहजतम तथा श्रेष्ठतम है। यदि तुम स्वयं को एक सच्चे गुरु के चरणों में समर्पित कर सको, तो तुम्हारे इस सेवाभाव से ही धीरे धीरे

तुम्हारा अहंकार मिट जायगा। यदि कोई मनुष्य सचमुच स्वयं को श्रीरामकृष्ण देव के मार्गदर्शन में समर्पित कर देता है, तो वे तुरन्त उसकी रक्षा करेंगे। किन्तु यह कार्य बहुत ही कम व्यक्ति—प्रायः कोई भी नहीं—कर सकते हैं, क्योंकि हर व्यक्ति कम या अधिक मात्रा में अहंकारी है ही। यदि ईश्वर के लिए कष्ट सहने से तुम्हारा तात्पर्य शरणागति है, और जिसे मैं इसका उचित अर्थ ही समझता हूँ, तो संसार में लगभग कोई भी इसका अधिकारी नहीं है। यदि मैं यहाँ हूँ और यहाँ प्रसन्न रहना चाहता हूँ, तो मुझे वही करना चाहिए, जो मुझे सभी भयों से मुक्त कर दे तथा पूर्णतः प्रसन्न बना दे। उनकी सन्तान होने के कारण मुझे कोई भय नहीं है, क्योंकि सर्वशक्तिमान परम दयालु परमेश्वर को मेरी चिन्ता करनी है। ईश्वर तुम्हारे माता-पिता दोनों हैं।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

—'तुम्हीं मेरी माता हो और तुम्हीं मेरे पिता, तुम्हीं मेरे बन्धु हो और तुम्हीं मेरे सखा, तुम्हीं मेरी विद्या हो और तुम्हीं मेरा धन; हे प्रभु, तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो।'

और श्रीरामकृष्ण ये सब कुछ हैं।

(समाप्त)

आध्यात्मिक सूक्तियाँ

स्वामी शिवानन्द

(स्वामी शिवानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के अन्तरंग संन्यासी-शिष्यों में से थे। वे रामकृष्ण संघ के द्वितीय अध्यक्ष हुए। उनके सयम और इन्द्रिय-निग्रह को देख स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें 'महापुरुष' की उपाधि दी थी, इस कारण वे रामकृष्ण संघ के भक्तों और संन्यासियों में 'महापुरुष महाराज' के नाम से परिचित हुए। विभिन्न अवसरों पर जिज्ञासुओं और भक्तों के साथ उनके जो वार्तालाप हुए थे, वहीं से कुछ उपदेशों का संकलन कर प्रस्तुत लेख के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। --स०)

साधु पुरुषों और पवित्र तीर्थों के स्वप्न बड़े शुभ होते हैं। बुरा संग सब प्रकार से काट देना चाहिए।

यदि तुम अपनी साधनाओं में विश्वास, पावित्र्य और भक्ति के साथ निष्ठापूर्वक लगे रहो, तो अवश्य ही ज्ञानदीप्त हो जाओगे।

साधना का जीवन एकदम गुप्त होना चाहिए। प्रचार हमारे प्रयत्नों में बाधक बनता है। दिव्य भावों को प्रकट कर देना उनकी तीव्रता को कम कर देना है। वह हानिकारक होता है। उनको जितना ही गुप्त रखा जायगा वे उतने ही तीव्र होंगे।

सदैव प्रार्थनापरायण रहो। ऐसे में यदि अशुभ विचार मन में आ भी गये, तो अधिक देर नहीं टिक सकेंगे। प्रार्थनापरायण व्यक्ति सदैव शान्ति से भरा होता है।

अवतार की शक्ति अनन्त होती है। इष्टदेवता पर अचल निर्भरशीलता ही भक्त का धर्म होता है। उसके लिए अज्ञान का परदा शीघ्र दूर हो जाता है।

मरणोत्तर मुक्ति की तुलना में जीवन्मुक्ति ऐसी है मानो कमरे की देहली पर एक पैर अन्दर और एक पैर बाहर करके खड़ा होना। इस अवस्था में अन्दर और बाहर दोनों दुनिया की चीजें दिखायी पड़ती हैं, जबकि मरणोत्तर मुक्ति में व्यक्ति अन्दर की दुनिया में प्रवेश कर जाता है और बाहर की दुनिया का कुछ देख नहीं पाता; तब मन से बाह्य चेतना पूरी तरह लुप्त हो जाती है।

हृदय में किसी दैवी रूप का चिन्तन एक प्रकार का ध्यान है। ऐसी कल्पना करो कि वह रूप परम दयालु है तथा तुम्हारी ओर गहरे स्नेह और करुणा से देख रहा है। ऐसे विचार तुम्हारे अन्तःकरण को प्रेम, आशा और शान्ति से भर देंगे और तुम धन्य हो जाओगे।

बीच बीच में चंचल और अस्थिर होना मन के स्वभाव में है। पर इससे हम विचलित या हताश न हो जाय, इसका ध्याम रखें। जब मन नियंत्रण में आता है, तो कभी-कभार होनेवाले ऐसे विचलन मन को कमजोर करने के वदले सशक्त ही करते हैं।

धैर्यपूर्वक नियमित अभ्यास ही आध्यात्मिक अनुभूति की कुंजी है। आध्यात्मिक जीवन में शीघ्रता कभी नहीं करनी चाहिए। तुम भरसक प्रयत्न करो और शेष ईश्वर पर छोड़ दो।

ईश्वर के सतत स्मरण से पूर्व की प्रवृत्तियाँ जड़ से उखड़कर नष्ट हो जाएगी और हृदय शान्ति से भर जायगा। एकमात्र ईश्वर की कृपा से ही मन शान्त होता है।

साधक का एकमात्र ध्येय है शुद्ध जीवन और चरित्र का गठन। यही उसके जीवन का मुख्य उद्देश्य है, बाकी सब तो गौण है।

तुम भगवान् को जितना पुकारोगे, उतने ही उनके समीप जाओगे। अनिर्बन्ध भक्ति ही उनकी कृपा की एकमात्र शर्त है।

एक शुद्ध और बेदाग जीवन संसार का यथार्थ हित कर सकता है। जब ऐसा जीवन बिताया जाता है, तब मुँह से उपदेश देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। उपदेश की अपेक्षा आचरण अधिक कार्यकर होता है।

भगवान् हमारे विश्वास को जाँचने और पुष्ट करने के लिए हमें दु:ख-कष्ट देते हैं। सहायता और मार्गदर्शन के लिए उनकी ओर ताको। सबको समान रूप से प्यार करो। दूसरे की भावनाओं पर ठेस मत पहुँचाओ।

यदि हमारा मन लम्बी अवधि तक दुनियादारी में डूबा रहे, तो उसे ईश्वराभिमुखी करना कठिन है, पर यदि तुम दृढ़तापूर्वक अपने को उनकी विस्मृति से बचाते रहो, तो उसमें परिवर्तन आएगा। प्रभु तो परम दयालु हैं। वे किसी भी प्रार्थना को नहीं ठुकराते। अपने दैनिक ध्यानाभ्यास में नियमित और श्रद्धावान् रहो और कभी भी मन को हताशा से घिरने न दो।

प्रश्न—मोक्ष क्या है, जिसे धर्मग्रन्थों ने मानव-जीवन का एकमात्र लक्ष्य माना है ? क्या इस लक्ष्य को प्राप्त करने की चेष्टा में व्यक्ति स्वार्थपर नहीं बन जाता ? मोक्षकामी व्यक्ति दूसरों की सेवा भला कैसे और क्योंकर करेगा, जब वह जानता है कि उससे उसका मन विक्षिप्त ही होगा ?

—**रवीन्द्र प्रताप सिंह, पटना**

उत्तर—मोक्ष मन की एक स्थिति है, जहाँ सारे द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। वह मन पर विजय की अवस्था है। मन और द्वन्द्व दोनों को एक दृष्टि से पर्यायवाची माना जा सकता है। द्वन्द्व का समाप्त होना ही मन का भी समाप्त होना है। इसे शास्त्रों ने 'अमनी मन' की अवस्था के नाम से भी सम्बोधित किया है। सामान्य अवस्था में मन बड़ा चंचल रहता है, उसमें सतत संकल्प और विकल्प उठते रहते हैं। जिस अवस्था में मन की यह चंचलता दूर हो जाय, वह भी मोक्ष का एक अभिप्राय है। इसीलिए कहा भी गया है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तैर्निर्विषयं स्मृतम्॥

—मन ही मनुष्य के बन्धन का कारण है और साथ ही मोक्ष का भी। जब वह चंचल होता है और बाहर के विषयों की ओर

दौड़ता है, तो बन्धन का हेतु बनता है, किन्तु जब वह अपनी चंचलता त्यागकर निर्विषय होता है, अर्थात् आत्मा को अपना विषय बनाता है, तो मोक्ष का साधन बन जाता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष वह अवस्था है, जहाँ मन काम और संकल्प से रहित होकर निर्विकल्प हो जाता है।

अब प्रश्न यह है कि जो व्यक्ति इस मोक्षरूपी लक्ष्य को पाने की चेष्टा करता है, वह क्या स्वार्थी नहीं बन जाता? एक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि मोक्षकामी स्वार्थपर बन जाता है, क्योंकि सतत वह अपने ही सम्बन्ध में सोचता रहता है—"मैं किसी बन्धन में न फँसूँ", 'मैं मुक्त हो जाऊँ', 'संसार का मेरा आवागमन कट जाय', 'मैं भगवान् के दर्शन पा लूँ'। आदि आदि। पर यह तभी होता है, जब उसका चिन्तन स्वयं उसके अपने तक ही केन्द्रित होता है। यथार्थ धर्म ऐसे स्वार्थपर भाव का पोषण नहीं करता। धर्म यह तो कहता है कि मन की निर्द्वन्द्वता रूप मोक्ष को पा लेना ही जीवन का लक्ष्य है, पर साथ ही वह इस पर भी जोर देता है कि यह निर्द्वन्द्वता तभी प्राप्त होगी, जब मन शुद्ध हो जायगा। अभी हमारा मन मलिन वासनाओं से भरा हुआ है। ऐसा मन साधन करने में समर्थ नहीं होता। उसे साधना की पात्रता तब मिलती है, जब वह अपना शोधन करता है। और शोधन का सबसे कारगर उपाय है ऐसे कार्यों में अपने को लगाना, जिनमें हमारा कोई स्वार्थ नहीं। जो कार्य हमारे द्वारा दूसरों के हित के लिए किये जाते हैं, वे मन के शुद्धीकरण के सबसे समर्थ साधन हैं। सन्त एकनाथ की कथा आती है कि गंगोत्री से लाये गंगा जल को, जिसे श्रीरामेश्वर में शिवजी का अभिषेक करने ले जा रहे हैं, वे एक प्यास से मृतप्राय गधे को पिलाकर निःशेष कर देते हैं और यह मानते हैं कि वही सच्ची शिवपूजा हो गयी। कल्पना करें, कहाँ महाराष्ट्र और कहाँ गंगोत्री, पैदल

चलकर पथ की समस्त विघ्न-बाधा सहकर उतनी दूर जाना, फिर वहाँ से रामेश्वर के लिए यात्रा करते करते आन्ध्र तक नीचे उतर आना, और रामेश्वर के समीप आकर सारा जल गधे को पिलाकर समाप्त कर देना! यह सेवाभाव एकनाथ ने कहाँ से प्राप्त किया? --निस्सन्देह धर्म की शिक्षा से ही। अतः मोक्षकामी व्यक्ति सेवा से दूर नहीं भागता। जो मन के चंचल होने के डर से सेवाकार्य से भागता है, उसने मोक्ष के तत्त्व को ही नहीं समझा। मोक्षकामी सेवा को अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का सक्षम साधन मानता है। जो धर्म का नाम लेकर स्वार्थी बनता है, उसे मोक्ष नहीं मिल सकता, क्योंकि मोक्ष और स्वार्थ दोनों परस्पर-विरोधी स्थितियाँ हैं। तभी तो स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक शिष्य को, जो सेवाकार्यों में सक्रिय हाथ बटाने के बदले पूजा-उपासना में अधिक रुचि प्रदर्शित करता था, डाँटते हुए उपदेश दिया था--"यदि तू 'मेरी मुक्ति' 'मेरी मुक्ति' कहता रहेगा, तो कभी तुझे मुक्ति नहीं मिलेगी। जा दूसरों की सेवा कर, उनके लिए अपना जीवन खपा दे। मस्तिष्क में अपने लिए कोई चिन्ता न रहे, केवल दूसरों के लिए जी। देखेगा, मोक्ष तेरे चरण चूमेगा।" तात्पर्य यह है कि स्वार्थ हेतु किये गये कर्म--चाहे वे धर्म से ही सम्बन्धित क्यों न हों--मन की चंचलता को बढ़ाते हैं, जबकि दूसरों की सेवा हेतु किये गये कर्म उसे निरुद्ध करते हैं। और मन का निरोध ही तो मोक्ष का सोपान है। पर हाँ, सेवा के ये कर्म भगवत्समर्पित बुद्धि से किये जाने चाहिए, तभी वे मोक्ष का साधन बनते हैं।

प्रश्न--भगवान् को पाने की आकुलता कैसे लायी जाय?

--द. गो. इंगले, नागपुर

उत्तर--जीवन में उनकी अपरिहार्यता का अनुभव करके। जब तक हमें ऐसा लगता है कि भगवान् की विशेष आवश्यकता नहीं है, तब तक आकुलता नहीं आती। जब ऐसा लगता है कि

ईश्वर ही हमारे सब कुछ हैं और जब संसार नीरस लगने लगता है, तो उन्हें पाने की आकुलता मन में जन्म लेती है। इसके लिए सत्संग नितान्त आवश्यक है। सत्संग से नित्य-अनित्य का विवेक-विचार हमारे मन में जन्म लेता है और संसार के विषय-भोगों के प्रति वैराग्य की भावना आती है। क्रमशः यह विवेक और वैराग्य, परिपक्व होने पर, भगवान् को पाने की आकुलता में परिवर्तित होता है।

प्रश्न--कहते हैं कि व्यक्ति आज जो कुछ है, पूर्वजन्म के संस्कारों का परिणाम है। तो क्या इन संस्कारों को पुरुषार्थ के द्वारा बदला नहीं जा सकता ?

--द. गो इंगले, नागपुर

उत्तर--क्यों नहीं, अवश्य बदला जा सकता है। यह सत्य है कि हम पूर्वजन्म के संस्कार लेकर पैदा होते हैं, पर यह भी सत्य है कि प्रयत्नपूर्वक इन संस्कारों में परिवर्तन साधित किया जा सकता है। मान लीजिए, किसान के पास उत्तम नस्ल का बीज है। पर इस बीज का समुचित फल उसे तभी मिलेगा, जब जमीन अच्छी तरह से तैयार हुई हो, खाद का भरपूर प्रबन्ध हो और सिंचाई की यथोचित व्यवस्था हो। इन सबके अभाव में उत्तम बीज भी सारहीन हो अपना पूरा फल नहीं दे पाएगा। यदि बीज निकृष्ट नस्ल का हो, तो भी यदि उसे जमीन, खाद और सिंचाई की उत्तम व्यवस्था मिले, तो अपना अधिकतम फल प्रदान करेगा, अन्यथा जो सार उसमें है, वह भी नष्ट हो जायगा। इसी प्रकार, पूर्वजन्म के संस्कारों की तुलना हम बीज से कर सकते हैं तथा जमीन, खाद और सिंचाई की व्यवस्था की तुलना पुरुषार्थ से। पुरुषार्थ के द्वारा संस्कारों की सामर्थ्य को परिवर्धित किया जा सकता है और साथ ही परिवर्तित भी। पुरुषार्थ के अभाव में उत्तम संस्कार भी कुण्ठित हो जाते हैं।

पुस्तक-समीक्षा

साहित्य वीथी

पुस्तक का नाम : श्रीश्रीरामकृष्णकथामृतम् (प्रथमो भागः)
मूल बँगला लेखक : श्री 'म'
प्रकाशक : रामकृष्ण मिशन कलकत्ता विद्यार्थी आश्रम
बेलघरिया, कलकत्ता ७००-०५६
पृष्ठ संख्या : १५६+१६, मूल्य – बीस रुपये

प्रस्तुत ग्रन्थ मूल बँगला कृति 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत संस्कृत अनुवाद है। मूल ग्रन्थ युगावतार भगवान् श्रीरामकृ के अमृतमय उपदेशों का उन्हीं के एक अन्तरंग गृही शि महेन्द्रनाथ गुप्त द्वारा किया हुआ संकलन है। श्री गुप्त अ गुप्त रखने के अभिप्राय से केवल 'म' के द्वारा ही अपना प देते थे। इस ग्रन्थ की उपयोगिता और लोकप्रियता का प्र यही है कि आज विश्व की अनेक भाषाओं में उसका अनु हो गया है, क्योंकि वह धर्म के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन सर बोल-चाल की भाषा में करता है।

श्रीरामकृष्ण देव का जीवन गहन आध्यात्मिक अनुभूति से भरा हुआ था। उनके वार्तालापों में ये अनुभूतियाँ शब्द हुई हैं। इन अनुभूतियों को संस्कृत भाषा में अनुवादित प्रकाशक ने संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि की है। अनुवाद भाषा बड़ी प्रांजल है। श्रीरामकृष्णदेव द्वारा गाये गये बँगला ग का संस्कृत अनुवाद अत्यन्त रसमय है। संस्कृत भाषा का साम जानकार भी इस प्रकाशन का रस ले सकेगा। ग्रन्थ की छा सुन्दर है और गेट-अप नयनाभिराम।

ऐसी उपादेय रचना के प्रकाशन के लिए हम प्रकाशक बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि संस्कृत भाषा के र पाठकों द्वारा प्रस्तुत कृति समादृत होगी।

—स्वामी आत्मा